अलिंगग्रहण प्रवचन

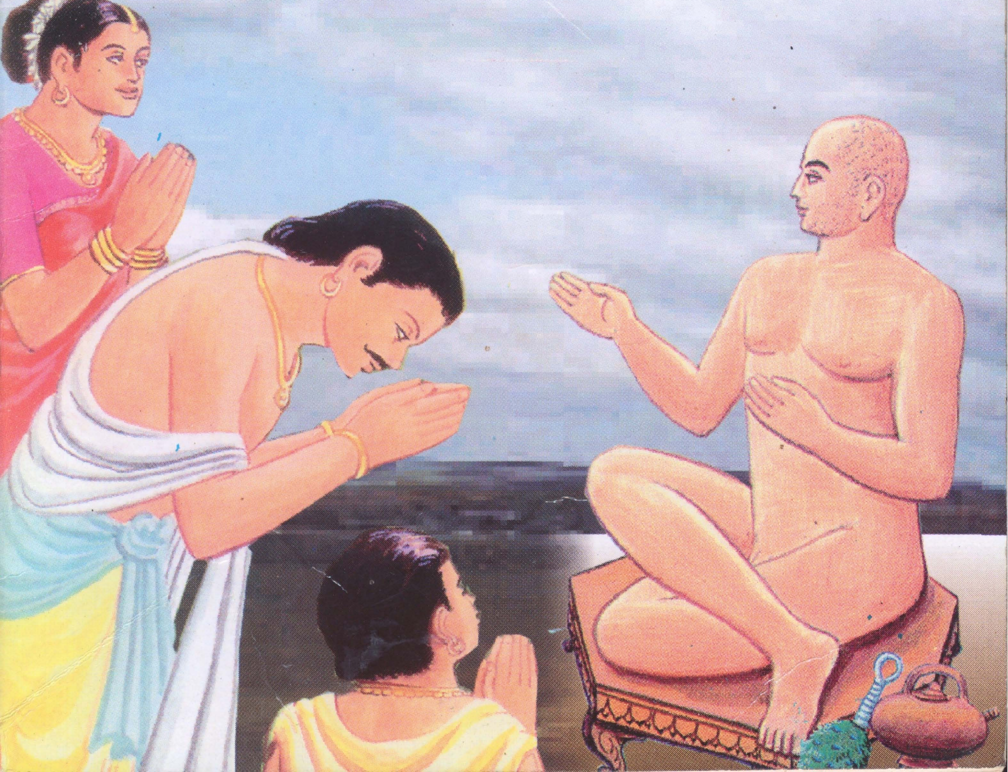

(भगवान महावीर २६ सौ वाँ जन्म-जयन्ती वर्ष)

अलिंगग्रहण प्रवचन

(गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के प्रवचनसार गाथा १७२ पर
हुए मार्मिक प्रवचनों का संकलन)

संपादक :
ब्र. यशपाल जैन एम.ए.

प्रकाशक :
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज.) ३०२-०१५
फोन : (०१४१) ५१५४५८, ५१५५८१

प्रथम संस्करण : 3 हजार
(18 जून, 1999)
द्वितीय संस्करण : 3 हजार
(26 जनवरी, 2001)

योग : 6 हजार

मूल्य : **छह रुपए**

मुद्रक :
जे. के. आफसैट प्रिंटर्स
जामा मस्जिद
दिल्ली

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के माध्यम से **अलिंगग्रहण प्रवचन** का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रात: स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार, पंचास्तिकाय नियमसार तथा अष्टपाहुड़ में जो अलिंगग्रहण की गाथा समाहित है वह प्रवचनसार शास्त्र में भी उपलब्ध हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह गाथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस गाथा में जीव का असाधारण लक्षण बतलाया है। चैतन्य उपवन में क्रीडा करते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने 'अलिंगग्रहण' शब्द में से अपूर्व भावों से परिपूर्ण २० बोल निकालकर प्रगट किए हैं। **उक्त बोल पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी को अत्यन्त प्रिय थे। उन्होंने वीर निर्वाण संवत् २४७७ में अद्भुत एवं अपूर्व प्रवचन किये थे।** उक्त प्रवचनों को संकलित कर सर्वप्रथम ब्र. दुलीचन्द जैन ग्रंथमाला सोनगढ़ के माध्यम से पुस्तकाकार रूप प्रकाशित किया गया था। यह पुस्तक दीर्घकाल से अनुपलब्ध थी। पाठकों की निरन्तर मांग को दृष्टिगत रखते हुए ब्र. यशपालजी ने उक्त कृति को आद्योपांत पढ़कर आवश्यक सुधार कर सम्पादित किया है और इसके पुन: प्रकाशन का बीड़ा उठाया हैं। इस महती कार्य के लिये ब्र. यशपालजी बधाई के पात्र हैं।

पुस्तक की कीमत कम करने के लिए जिन महानुभावों ने अपना आर्थिक सहयोग दिया है, उनकी सूची पृथक् से प्रकाशित की गई हैं। सभी दानदातारों का मैं आभार मानता हूँ।

आशा है पुस्तक का यह नवीन संस्करण आकर्षक कलेवर में आपका मन मोह लेगा। इसे आकर्षक रूप में प्रकाशित करने का श्रेय प्रकाशन विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को जाता है, जिन्होंने आवरण को नयनाभिराम रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आप सभी पाठक अलिंगग्रहण आत्मा को समझकर अपना आत्मकल्याण करें, इसी भावना के साथ।

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1. श्री सुमतिलालजी जम्बूकुमारजी जैनावत, बोहड़ा	501.00
2. श्री धनेशकुमार गनेशकुमारजी जैन, ग्वालियर	501.00
3. श्री रतनलालजी जैन, गोहद	501.00
4. श्री देवप्रसादजी जैन, ग्वालियर	501.00
5. श्री छोगालालजी केरोत, अहमदाबाद	500.00
6. श्री मोहनलालजी छगनलालजी कीकावत, उदयपुर	500.00
7. श्रीमती इन्दूबेन दिनेशजी शाह, उज्जैन	351.00
8. श्री अमृतलाल जयकिशोरजी जैन, साकरोंदा	250.00
9. श्रीमती किरण ठोलिया, मुर्शिदाबाद	250.00
10. वैध हुकमचन्दजी जैन, राधोगढ़	201.00
11. श्री राजेन्द्रकुमार मनोजकुमारजी जैन, राधोगढ़	201.00
12. श्री सुमतचन्दजी जैन, ग्वालियर	201.00
13. श्रीमती कुंचनदेवी सेठी, जयपुर	201.00
14. श्री रमेशचन्दजी जैन, कोटा	201.00
15. श्रीमती कमलाबाई ध.प. डॉ. विमलकुमारजी जैन, विदिशा	200.00
16. श्री जयकुमारजी जैन, रतलाम	201.00
17. श्री मानकचन्दजी जैन, दौसा	150.00
18. श्री सोहनलाल नाथूलालजी जैन, रैयाना	150.00
19. श्री हजारीलालजी जैन, बीना	101.00
20. ध.प. श्री मोतीलालजी जैन, बीना	101.00
21. ध.प. श्री विमलकुमारजी जैन, बीना	101.00
22. ध.प. श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन, कठूरया	101.00
23. श्रीमती कुसुमबाई ध.प. श्री प्रेमचन्दजी भारिल्य, राधोगढ़	101.00
कुल राशि	6164.00

संपादकीय

आध्यात्मिक सत्पुरुष गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के निमित्त से इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द वास्तविक समाज के सामने आ गये अर्थात् जनसामान्य भी आचार्यश्री कुंदकुंद रचित समयसारादि ग्रंथों का अध्ययन करने लगा है।

प्रवचनसार ग्रंथ का विषय ज्ञानप्रधान, सूक्ष्म, गूढ़ एवं गम्भीर है। इसके दूसरे अध्याय का नाम ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन है, जिसे जयसेनाचार्य ने सम्यग्दर्शनाधिकार कहा है। इस अधिकार में गाथा क्रमांक १७२ विशेष प्रसिद्ध है। करीब बारह वर्ष पहले मैंने हिन्दी में **अलिंगग्रहण प्रवचन** नाम से प्रकाशित **आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी** के प्रवचनों का स्वाध्याय किया था। मुझे प्रवचन बहुत अच्छे लगे थे। उस समय से ही इसे पुन: प्रकाशित करने का भाव था।

हिन्दी में पहले संस्करण की अपेक्षा इस संस्करण में जो विशेषताएँ हैं, उन्हें मैं पाठकों की जानकारी के लिए कुछ लिखना चाहता हूँ —

(१) इस संस्करण में प्रत्येक बोल की मूल संस्कृत टीका तो दी ही है और साथ में उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया है।

(२) प्रत्येक बोल का विभाग स्पष्ट करने का प्रयास किया है; इसलिए फोलिओ में भी पहला बोल, दूसरा बोल ऐसा विभाजन स्पष्ट किया है।

(३) **पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी** के मूल गुजराती प्रवचनों के साथ पूर्ण प्रवचन का मिलान किया है।

(४) बड़े-बड़े परिच्छेद थे, उनको विभाजित करके छोटे-छोटे परिच्छेद बनाये हैं।

(५) प्रश्न और उत्तर ऐसा स्पष्ट विभाजन करके पाठकों को विषय सुलभ बनाने का प्रयास किया है।

(६) सातवें, आठवें आदि बोल में पहले आदि बोल का पुन: विषय आया है, वहाँ बोल-१ इत्यादि शब्दों में उल्लेख किया है।

(७) कुछ विशिष्ट विषय बड़े अक्षरों में दिये हैं।

(८) जहाँ स्पष्टता में कठिनता थी, वहाँ गुजराती प्रवचन अथवा मूल के आधार से सुलभता लाने का प्रयास किया है।

(९) पुस्तक का आकार तो बड़ा किया ही है। टाइप भी विशेष बड़ा बनाकर वृद्ध लोगों को पढ़ने की सुविधा हो, यह भावना रखी गयी है।

(१०) जिस दिन जो प्रवचन हुआ है, उस दिन/वार का नाम और दिनांक तो दिया ही है, साथ ही पहला प्रवचन, दूसरा प्रवचन आदि विभाग भी स्पष्ट दर्शाये हैं।

(११) विषय की अनुक्रमणिका भी दी है।

अलिंगग्रहण प्रवचन के इस संपादन, मिलान आदि कार्य में मुझे ब्र. विमलाबेन जबलपुर ने आदि से अंत तक पूर्ण सहयोग दिया है, इसका उल्लेख करना मुझे अनिवार्य है।

आध्यात्मिक पाठक इस संस्करण का लाभ उठाएंगे, ऐसी मैं आशा रखता हूँ। कुछ सुझाव हो तो अगले संस्करण में और संशोधन करने का प्रयास करेंगे।

ब्र. यशपाल जैन

अनुक्रमणिका

विषय	पेज	विषय	पेज
पहला बोल	६	ग्यारहवाँ बोल	४९
दूसरा बोल	१२	बारहवाँ बोल	५४
तीसरा बोल	१७	तेरहवाँ बोल	५६
चौथा बोल	१८	चौदहवाँ बोल	५८
पाँचवाँ बोल	१९	पन्द्रहवाँ बोल	५९
छठवाँ बोल	३०	सोलहवाँ बोल	६१
सातवाँ बोल	३३	सत्रहवाँ बोल	६४
आठवाँ बोल	३८	अठारहवाँ बोल	६६
नववाँ बोल	४४	उन्नीसवाँ बोल	६९
दसवाँ बोल	४७	बीसवाँ बोल	७२

पर और विकार से निवृत्त होकर पूर्ण ज्ञान और आनन्ददशा को प्राप्त करनेवाले परमात्मा को नमस्कार

इस जगत को आनन्द चाहिए। वह आनन्द कहाँ से आयेगा ? लेंड़ीपीपर में चौंसठ पुटी तिखास जो भरी पड़ी है, उसमें से तिखास आती है। जो स्वभाव भरा है, उस शक्ति का विकास होता है। प्राप्त की प्राप्ति होती है। आत्मा पूर्ण ज्ञान और आनन्द से भरे हुये स्वभाववाला है, उसमें से परमात्मदशा प्रगट होती है। जिनने एकमात्र ज्ञान और आनन्द से भरे हुए अन्तर आनन्द-कुण्ड का आश्रय लिया है, उन्हें ज्ञान और आनन्द पूर्ण प्रगट हुआ है। अज्ञानी जीव को ज्ञान और आनन्द शक्तिरूप है। साधक जीव को ज्ञान और आनन्द शक्तिरूप भी है तथा पर्याय में भी ज्ञान और आनन्द आंशिक प्रगट हुये हैं। परमात्मा को शक्ति में तथा व्यक्ति में भी पूर्ण ज्ञान और आनन्द है। अज्ञानी को ज्ञान और आनन्द जो शक्तिरूप है उसकी खबर नहीं; अत: वह वन्दन करने लायक नहीं है। साधकदशा अधूरीदशा है, इसलिये उसे यहाँ नहीं लिया है; मात्र पूर्ण ज्ञान और आनन्ददशावाले आत्मा ही लिये हैं।

भगवान को तीनकाल-तीनलोक को जानते ही आकुलता नहीं रही और पूर्ण आनन्द प्रगट होते ही दु:ख नहीं रहा। उन्हें उत्कृष्ट आत्मा पर्याय अपेक्षा से कहा गया है। शरीर-मन-वाणी से आत्मा पृथक है। हिंसा, झूठ, चोरी तथा दया-दानादि विकार है, किन्तु विकार रहित अंतर स्वरूप ज्ञान और आनन्दमय है, जो शक्तिरूप है, जिन्होंने वह दिव्य शक्ति प्रगट की है, ऐसे अरहन्त और सिद्ध उत्कृष्ट आत्मा हैं, उन्हें यहाँ नमस्कार किया है। मुनि साधकदशा में हैं, इसलिये केवली परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

— **दिव्यध्वनिसार भाग १,पृष्ठ २**

[प्रवचनसार पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन]

श्रमण शुद्धोपयोग को साधते हैं, किन्तु महाव्रतादि के राग को नहीं साधते

श्री अर्हन्त को परमेश्वरता प्रगट हुई है। सिद्ध पूर्ण शुद्ध सत्तावाले हैं। सन्तों को पूर्ण शुद्ध सत्ता प्रगट नहीं हुई है, किन्तु उन्होंने शुद्ध उपयोग भूमिका प्रगट की है। उन्हें अट्ठाईस मूलगुण प्राप्त करना नहीं रहता, अपितु अट्ठाईस मूलगुण के पालन का भाव सहज आ जाता है। निश्चय से वे राग का पालन नहीं करते। शुभराग तो बलपूर्वक आ जाता है। पूर्व में कहा है कि - सरागचारित्र क्रम में आ गया है। राग को लायें वह तो मिथ्यादृष्टिपना है। यहाँ तो लोगों को मुनिपने की खबर भी नहीं है। पाँच महाव्रत को मुनि नहीं लाते किन्तु, छटवें गुणस्थान के क्रम में ऐसा राग आ जाता है। मैं इसप्रकार की दया का राग लाऊं - ऐसा मानना वह तो मिथ्यादृष्टिपना है। अज्ञानी उनमें फेर-फार करना मानता है, किन्तु इसलिए वस्तुस्वरूप नहीं बदलता।

तीर्थंकर परमात्मा को माननेवाले साधक कैसे होते हैं ?

वे शुद्ध उपयोग को साधते हैं किन्तु, अट्ठाईस मूलगुण पालन को नहीं साधते। शुभराग आ जाता है किन्तु, उसे पुण्य और जहर मानते हैं। मूढ़ जीव शुभराग को धर्म मानते हैं, इसलिए वे संसार में रखड़ते हैं। यह प्रवचनसार दो हजार वर्ष पहले लिखा गया था और इसकी टीका एक हजार वर्ष पहले हुई है। देखो! यहाँ मुनि की बात की है। शुद्धोपयोग चौथे-पाँचवे गुणस्थान में आता है, किन्तु परम शुद्धोपयोग मुनि को आता है। ऐसी भूमिका सामान्यरूप से प्राप्त की है और विशेषरूप से आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के विशेष्यों से भेदवाले हैं - उनको प्रणाम करता हूँ। इसप्रकार अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु कैसे होते हैं ? उनका भान करके-नमस्कार करते हैं। मेरी पहचान से उनकी पहचान है। जो शुभराग आया है, वह व्यवहार से नमस्कार कहलाता है।

— **दिव्यध्वनिसार भाग १**,पृष्ठ २६

[प्रवचनसार पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन]

अलिंगग्रहण प्रवचन

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ १७२ ॥[1]

अरस मरूवमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं, जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ १७२ ॥

चैतन्य गुणमय आतमा, अव्यक्त अरस अरूप है ।
जानो अलिंगग्रहण इसे, यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ :- [**जीवम्**] जीव को [**अरसम्**] अरस, [**अरूपम्**] अरूप, [**अगंधम्**] अगंध, [**अव्यक्तम्**] अव्यक्त, [**चेतनागुणम्**] चेतनागुणयुक्त, [**अशब्दम्**] अशब्द, [**अलिंगग्रहणम्**] अलिंगग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य) और [**अनिर्दिष्टसंस्थानम्**] जिसको कोई संस्थान नहीं कहा गया है, ऐसा [**जानीहि**] जानो।

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्ग-ग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति। सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति। तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति।

---

१. यह गाथा समयसार में ४९वीं, नियमसार में ४६वीं, पंचास्तिकाय संग्रह में १२७वीं, अष्टपाहुड-भावपाहुड में ६४वीं, धवला पुस्तक ३ में पहली, लघु द्रव्यसंग्रह में ५वीं इत्यादि अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है।

पहला प्रवचन

वीर निर्वाण संवत् २४७७, माघ कृष्णा-२,
शुक्रवार, दिनांक २३/२/१९५१

परद्रव्यों से विभाग का साधनभूत जीव का असाधारण स्वलक्षण

जीव में रस नहीं है, गंध नहीं है, स्पर्श गुण की व्यक्तता नहीं है। वह चेतनगुणमय है। आत्मा शब्द नहीं बोलता है, उसीप्रकार वह शब्द का कारण भी नहीं है, लिंग से ग्रहण होने योग्य नहीं है और पर के आकार से रहित है, ऐसा तुम जानो। यहाँ आचार्य भगवान आदेश करते हैं कि तू तेरे आत्मा को ऐसा जान।

टीका — (१) आत्मा में अरसपना है।

आत्मा में रस नहीं है; क्योंकि उसका स्वभाव रस गुण के अभावरूप है।

(२) आत्मा में अरूपीपना है।

आत्मा में रूप नहीं है; क्योंकि उसका स्वभाव रूप गुण के अभावरूप है।

आत्मा में रूपित्व का उपचार करने का कारण

प्रश्न : आत्मा में रूपित्व नहीं होने पर भी वह रूपी है अथवा मूर्त है, ऐसा व्यवहारशास्त्र में कथन आता है, उसका क्या स्पष्टीकरण है?

उत्तर : आत्मा निश्चय से तो अरूपी है, परन्तु कर्म के संयोग की अपेक्षा से व्यवहार से रूपी कहा है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह यथार्थ में रूपी हो जाता हो। शास्त्र में अनेक अपेक्षाओं से कथन आता है। **जीव स्वयं विकार करता है, तब जड़कर्म निमित्तरूप होते हैं, उस रूपी कर्म के संयोग की अपेक्षा से आत्मा में रूपित्व का उपचार किया जाता है। विकारी परिणाम की जीव की योग्यता और उस योग्यता के निमित्तरूपी कर्म का एक क्षेत्र में रहने जितना संबंध बिलकुल ही नहीं होता तो रूपित्व का उपचार भी नहीं हो सकता था।**

जिसप्रकार सिद्धदशा में विकार की योग्यता भी नहीं है और निमित्तरूप कर्म भी नहीं है; अतः सिद्धदशा में रूपित्व का उपचार भी नहीं होता है; परन्तु संसारदशा में विकार की योग्यता है, वह रूपी कर्मों के निमित्त बिना नहीं हो सकती है। जीव कर्म के निमित्त बिना का हो तो सिद्ध हो जाय। विकार अशुद्ध पारिणामिक भाव है। **जीव स्वयं स्वभाव के आश्रय से च्युत होकर कर्म का आश्रय करता है और विकार करता है; परन्तु कर्म विकार नहीं कराता है; क्योंकि आत्मा तथा कर्म में अत्यंत अभाव है।**

जड़कर्म को तो ज्ञान भी नहीं है कि मेरा आश्रय करके जीव विकार करता है। जीव विकार करता है, वह तो जीव की भूल है; परन्तु वह जीव का त्रिकाली स्वरूप नहीं है। रूपी के लक्ष बिना विकार नहीं होता है। जीव की ऐसी योग्यता है और रूपी कर्म का संयोग निमित्त है; अतः रूपित्व का उपचार किया गया है।

(३) आत्मा में अगंधपना है।

आत्मा में गंध का अभाव है। सुगंध-दुर्गंध आत्मा में नहीं हैं।

(४) आत्मा में अव्यक्तपना है।

आत्मा में स्पर्श की व्यक्तता का अभाव है। शीत से उष्ण होना, रूक्ष से चिकना होना, स्थूल से सूक्ष्म होना, हलके से भारी होना, कर्कश से नरम होना – ये सर्व जड़ की अवस्थायें हैं। आत्मा में इस स्पर्श की व्यक्तता का अभाव है। आत्मा में इसप्रकार का कोई गुण नहीं है कि जिसके कारण स्पर्श की व्यक्तता हो। अतः आत्मा अव्यक्त है।

(५) आत्मा में अशब्दपना है।

आत्मा में शब्दरूप पर्याय का अभाव है। अज्ञानी मानता है कि जिस भाषा के बोलने से जीव का हित हो, वह भाषा बोलना। कठोर भाषा बोलने से जीव के कलुषितता हो; अतः ऐसी वाणी नहीं निकालना। परन्तु भाई! वाणी निकालना अथवा नहीं निकालना वह जीव के आधीन नहीं है। वाणी स्वतंत्र है और जीव स्वतंत्र है। वाणी से लाभ अथवा हानि नहीं है; परन्तु अज्ञानी को भय लगता है कि इसप्रकार वाणी को स्वतंत्र मानने से तो कोई भी जीव गुरु

का बहुमान नहीं करेगा, कोई किसी का उपकार स्वीकार नहीं करेंगे और सब रूखे हो जायेंगे। परन्तु भाई! कोई भी जीव पर का बहुमान नहीं करता है।

धर्मी जीव अपने भाव में अपने स्वभाव का बहुमान करता है और स्वभाव में स्थिर नहीं हो सकता हो, तब शुभभाव में गुरु का बहुमान आ जाता है। केवली भगवान के इच्छा बिना वाणी निकलती है और छद्मस्थ जीव इच्छापूर्वक वाणी निकाल सकता है, यह बात भी मिथ्या है; क्योंकि वाणीरूप पर्याय का सर्व जीवों में तीनों काल अत्यंत अभाव है।

(६) आत्मा में अलिंगग्राह्यपना है।

आत्मा में रूप, रस, गंध आदि का अभाव होने से आत्मा किसी भी लिंग अर्थात् चिन्ह से पहिचानने योग्य नहीं है। शरीर में अमुक प्रकार के रंग से अमुक भगवान की पहचान हो, अमुक प्रकार की वाणी हो तो मुनि पहिचाने जायें, परम औदारिक शरीर हो तो केवली भगवान पहिचाने जायें, दिव्यध्वनि हो तो तीर्थंकर भगवान पहिचाने जा सकें।

प्रश्न : क्या इन चिन्हों से जीव पहिचाना जाता है?

उत्तर : नहीं, ये सर्व चिह्न तो जड़ के हैं। इनसे आत्मा पहिचान में नहीं आता है। अपने चैतन्यगुण से प्रत्येक आत्मा पहिचाना जाता है। जो स्वयं को नहीं पहिचानता है, वह पर को भी नहीं पहिचानता है। जो स्वयं को पहिचानता है, वही पर को यथार्थ में पहिचान सकता है। किसी बाह्य लिंग से आत्मा नहीं पहिचाना जाता है।

(७) आत्मा में असंस्थानपना है।

शरीर के भिन्न-भिन्न संस्थानों से अर्थात् आकारों से आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता है। आत्मा का स्वभाव जड़ के सर्व आकारों से रहित है।

इसप्रकार आत्मा को पुद्गल से भिन्न करने का साधन (१) अरसपना (२) अरूपपना (३) अगंधपना (४) अव्यक्तपना (५) अशब्दपना (६) अलिंगग्राह्यपना और (७) असंस्थानपना को कहा गया है।

दूसरा प्रवचन

माघ कृष्णा ३,
शनिवार, दि. २४/२/१९५१

जीव को अजीव से भिन्न करने का साधन - चेतनामयत्व

पुद्‌गल से आत्मा को भिन्न करने का साधन कहा। अब पुद्‌गल तथा अपुद्‌गल अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल - इन चार अजीव द्रव्यों से आत्मा को भिन्न करने का साधन-चेतनागुणमयत्व कहते हैं। पुद्‌गल तथा अन्य अजीव से भिन्न करने का साधन विकार, काम, क्रोध इत्यादि को नहीं कहा है। चेतना गुण है और चेतन गुणी है। आत्मा जानने-देखने के स्वभाव से अभेद है और उस साधन के द्वारा उसे सर्व अजीव से भिन्न करना धर्म है।

जीव को अन्य जीवों से भिन्न करने का साधन स्वद्रव्याश्रित चेतनामयत्व

आत्मा को सर्वप्रथम पुद्‌गलों से भिन्न किया। पश्चात् अन्य अजीवों से भिन्न किया। अब अन्य जीवों से भिन्न करते हैं। अपना चेतनागुण अपने आत्मा के आश्रय से है, अन्य आत्मा के आश्रय नहीं है। वह स्वयं का चेतना गुण स्वयं को अनंत केवली, सिद्ध, अनंत निगोद इत्यादि अनंत जीवों से भिन्न करता है, क्योंकि स्वयं का चेतना गुण स्वयं का स्वलक्षण है। उसको सदा स्वयं धारण कर रखता है। साधकदशा में धर्म की साधना के लिये चेतना गुण प्रयुक्त होता है।

प्रश्न : इसमें दया पालना कहाँ आया ?

उत्तर : अपने चेतनागुण से स्वजीव का निर्णय करना ही स्वदया है। जीव पर की दया पालन नहीं कर सकता है। पर से भिन्न कहा अर्थात् पर का कुछ भी कर सकता है, ऐसा रहा नहीं तथा **जीव को दया-दान के लक्षणवाला नहीं कहा है, परन्तु चैतन्यमय कहा है।** ऐसा कहने से ही दया-दानादि का विकार क्षणिक है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है, ऐसा निर्णय होता है। पर को तथा स्व को एक मानना, संसारमार्ग है और स्वयं को पर से भिन्न साधना, वह मोक्षमार्ग है।

अलिंगग्रहण का अर्थ

अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये। तथाहि :—

जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहाँ जो अलिंगग्रहण कहा है, वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिये है। वह इसप्रकार है :-

अलिंगग्रहण अर्थात् पर चिह्न द्वारा अथवा पर लिंग द्वारा जीव का अनुभव नहीं किया जा सकता है, किसी चिह्न से अथवा निमित्त से आत्मा का पता लग सकता नहीं।

'अलिंगग्राह्य' ऐसा कहना है, वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह अनेक अर्थों की प्राप्ति के हेतु है। **अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये 'अलिंगग्रहण' शब्द वाचक है और उस शब्द द्वारा कहने योग्य भाव वह वाच्य है।** उस भाव को जानकर आत्मा को लिंग से भिन्न करना और निर्णय करना धर्म है।

पहला बोल

न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः।

अर्थ :- ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा इन्द्रिय द्वारा नहीं जानता है।

आत्मा स्व तथा पर को इन्द्रियों से नहीं जानता है। स्व-पर दोनों ज्ञेय हैं। स्व-पर ज्ञेयों के ज्ञाता ऐसे आत्मा को इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है। यहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान की प्रसिद्धि है।

''चाबी देने से घड़ी चलती है, आत्मा है तो शरीर चलता है, अग्नि थी तो पानी गर्म हुआ, पेट्रोल था तो मोटर चली, स्त्री थी तो रोटी बनी, हाथ था

तो लकड़ी ऊँची हुई, इसप्रकार प्रत्यक्ष इन्द्रियों से दिखाई देता है'' — अज्ञानी इसप्रकार तर्क करता है।

परन्तु यह मान्यता भूल भरी है, अज्ञानी जीव, इन्द्रियों की आड़ सहित संयोगों को देखता है। ज्ञान संयोग का नहीं है, ज्ञान इन्द्रिय का नहीं है, परन्तु ज्ञान आत्मा का है — ऐसा नहीं मान कर, इन्द्रियों से ज्ञान होता है, ऐसा जो मानता है वह संयोग को देखता है। आत्मा का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। पर को भी इन्द्रियों से जानना, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। स्व को तो इंद्रियों से नहीं जानता है और परपदार्थों का भी आंख, कान, नाक आदि पाँच इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है।

स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव, स्वयं से है; इंद्रियों से नहीं।

प्रश्न : आँख से मोतिया उतरवाना कि नहीं? मोतिया उतरवाते हैं तो दिखता है और नहीं उतरवाते हैं तो नहीं दिखता।

उत्तर : भाई, मोतिया उतरवाने के पहले या पीछे आँख से नहीं दिखाई देता है। आत्मा में ज्ञान है, इन्द्रियों में ज्ञान नहीं है। मोतिया उतरवाने से पहले भी अपने ज्ञान के उघाड़ की योग्यता अनुसार जानता है और पीछे भी अपनी योग्यता अनुसार जानता है।

स्वयं का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव क्या इन्द्रियों के कारण है? परप्रकाशकस्वभाव क्या इंद्रियों के कारण है? नहीं, ज्ञानस्वभाव इन्द्रियों का नहीं है, इन्द्रियों के कारण नहीं है। स्व और पर दोनों को जानने का स्वयं का स्वभाव है, उसे चूक कर (उससे च्युत होकर) अज्ञानी जीव इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है — ऐसा मानता है, वह भ्रम है।

ज्ञायक स्वभाव की प्रतीति रूप 'नाक' (प्रतिष्ठा) बिना ज्ञान सम्यक् नहीं होता।

बाजार में कोई भी ग्राहक माल लेने जाये तो माल लेने के लिए उसके पास नगद रुपया अथवा 'नाक' अर्थात् 'प्रतिष्ठा' होनी चाहिये। नगद रुपयों से माल मिलता है और रुपया न हो तो 'नाक' (प्रतिष्ठा) से माल मिलता है;

परन्तु इनमें से एक भी न हो तो भिखारी को माल नहीं मिलता है। उसीप्रकार यह आत्मा ग्राहक है उसे माल लेना है अर्थात् ग्रहण करने का - जानने का कार्य करना है। यदि उसके पास केवलज्ञानरूपी नगद रुपया हो तो सब को प्रत्यक्ष जान लेता है। यदि वह न हो तो **अल्पज्ञ अवस्था में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिरूप प्रतिष्ठा हो तो वह जानने का कार्य यथार्थ कर सकता है;** परन्तु जिसके पास केवलज्ञानरूपी नगद रुपया नहीं है और अखंड ज्ञायक की प्रतीति रूप प्रतिष्ठा नहीं है, उस जीव को भिखारी की भांति ज्ञेय का ज्ञान यथार्थ नहीं होता है।

(१) अज्ञानी जीव 'इन्द्रियों से ज्ञान होता है'; ऐसा मानते हैं, वह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि जड़ इन्द्रियों का आत्मा में अत्यंत अभाव है। अतः इन्द्रियाँ आत्मा को किंचित् भी सहायता नहीं कर सकती हैं।

(२) इन्द्रियों में ज्ञानस्वभाव का अभाव है। जिसमें ज्ञान स्वभाव ही नहीं है, वे ज्ञान किसप्रकार करें? अर्थात् करते ही नहीं हैं।

अतः ग्राहक अर्थात् ग्रहण करनेवाला ज्ञाता जिसप्रकार है, उसे उसीप्रकार यथार्थ जानना चाहिये। यह ज्ञेय अधिकार है। स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा पर के द्रव्य-गुण-पर्याय में से किसी एक को भी आत्मा इन्द्रियों से नहीं जानता है; परन्तु अपने ज्ञान से जानता है; ऐसा निर्णय करें उसका ज्ञान सम्यक् होता है।

अज्ञानी वर्तमान पर्याय का ज्ञान संयोग से करता है।

ज्ञायकस्वभाव का भान नहीं होने के कारण अज्ञानी भ्रांति का सेवन करता है और मानता है कि इस हाथ से लकड़ी ऊपर उठी, आँख से प्रत्यक्ष दिखाई दिया, शब्द से ज्ञान हुआ, दुकान पर मैं था तो रुपया आया — ऐसा संयोग से देखता है। अपने ज्ञान की पर्याय इन्द्रियों से होती है, इसप्रकार माननेवाला जीव परपदार्थों की पर्याय को भी संयोग से देखता है; वह आत्मा नहीं कहलाता है। अज्ञानी जीव भले ही यह मानता हो कि मुझे ज्ञान, इन्द्रियों से होता है; परन्तु वास्तव में तो उसे भी ज्ञान तो आत्मा से ही होता है; परन्तु वह उसप्रकार

नहीं मानता है, अत: उसको चैतन्य का अवलंबन नहीं है। इसप्रकार **जो जीव स्व की पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानता है, उसे परपदार्थों की पर्यायें स्वतंत्र देखने की शक्ति विकसित नहीं होती है।**

अज्ञानी उल्टी मान्यता करें तो भी वस्तु का स्वभाव परिवर्तित नहीं होता है; परन्तु वह अपनी मान्यता में दोष उत्पन्न करके दु:खी होता है।

'वर्तमान पर्याय का यथार्थ ज्ञान किया' यह कब कहलाएगा ?

'स्व तथा परपदार्थों की वर्तमान अवस्था का सच्चा ज्ञान किया' यह कब कहलाएगा ? जब उस-उस पदार्थ का स्वभाव जाने तो जो जीव अपना ज्ञान अपने ज्ञाता स्वभाव के आश्रय से होता है; परन्तु इंद्रियों के तथा परपदार्थों के अवलंबन से नहीं होता, ऐसा मानता है, वह जीव परपदार्थों की पर्यायों को भी उनके द्रव्य के आश्रय से (उत्पन्न) हुई मानता है; परन्तु अन्य के आश्रय से (उत्पन्न) हुई नहीं मानता है। इसप्रकार मानकर ऐसा निर्णय करता है कि मोटर चलने के काल में अपने कारण से चलती है और रुकने के काल में अपने कारण रुकती है। पेट्रोल के साथ मोटर का संबंध नहीं है। लकड़ी अपने कारण ऊँची-नीची होती है, जीव से नहीं होती। विद्यार्थी के पढ़ने की पर्याय विद्यार्थी के कारण है, शिक्षक के कारण नहीं।

वे - वे पर्यायें अपने-अपने द्रव्य के आश्रय से होती हैं, पर्याय पर्यायवान की है, वह अन्य के कारण नहीं है। **निगोद से लेकर सभी जीव अपने आत्मा से जानते हैं; परन्तु इन्द्रियों से नहीं जानते।** एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवों के आंखें नहीं हैं; अत: वे देख नहीं सकते हैं और चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के आंखें हैं; अत: वे देख सकते हैं; यह बात मिथ्या है।

ज्ञान का उघाड़ पर के आश्रय से नहीं है; उसीप्रकार वह पर में से नहीं आता है। वह ज्ञान की पर्याय पर्यायवान द्रव्य में से आती है। क्या आत्मा किसी भी समय अपने जानने-देखने के स्वभाव से रहित है कि वह इन्द्रियों द्वारा जाने? कभी नहीं। निगोद में भी अपना स्वभाव विद्यमान है; वहाँ भी स्वयं से जानता है। इसप्रकार **पर्याय पर्यायवान की है, ऐसा निर्णय करे तो 'वर्तमान पर्याय का सच्चा ज्ञान किया' कहलाता है।**

प्रश्न : यहाँ आप कहते है कि इन्द्रिय बिना ज्ञान होता है; परन्तु शास्त्र में उल्लेख है कि इन्द्रिय और मन के अवलंबन से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, वह अप्रमाण हो जायेगा ?

उत्तर : व्यवहारनय संयोगों का ज्ञान कराता है।

इन्द्रियों और मन द्वारा मतिज्ञान होता है; वह व्यवहारनय का कथन है। व्यवहार से मतिज्ञान में अनेक भेद पड़ते हैं; परन्तु निमित्त की अपेक्षा नहीं लेने पर ज्ञान एक ही है। जीव अपने आत्मा से ज्ञान करता है, तब अन्य किन वस्तुओं की उपस्थिति होती है, व्यवहारनय उनका ज्ञान कराता है। ये सभी भेद अपनी पर्याय की उस-उस समय की योग्यता के कारण पड़ते हैं। इन्द्रियाँ आदि बाह्य संयोगों के कारण भेद नहीं हैं; परन्तु अपने कारण भेद पड़ते हैं, तब निमित्त पर आरोप आता है।

यहाँ तो भेद का भी निषेध करते हैं। निमित्तों के आश्रय से ज्ञान होता ही नहीं है। ज्ञायक के आश्रय से ज्ञान विकसित होता है। **इन्द्रियाँ तथा परवस्तु आत्मा को तीन काल में स्पर्श ही नहीं करतीं। अतः उनके द्वारा आत्मा जान ही नहीं सकता है; परन्तु अपने अस्तिरूप ज्ञानस्वभाव के द्वारा जानता है।** अज्ञानी स्वयं की भ्रमणा के कारण 'संयोग से मैं जानता हूँ' ऐसा मानता है, यह मान्यता स्वभावदृष्टि का घात करती है। वह तो सभी वस्तुओं को संयोग से देखता है। **ज्ञानी तो स्वयं को प्रत्यक्षज्ञान से जानता है, ऐसा निर्णय करे तो परपदार्थ को भी उसके स्वभाव से जानने का निर्णय कर सकता है।**

अल्पज्ञता के समय इन्द्रियाँ, मन आदि निमित्त हैं और सर्वज्ञदशा के समय इन्द्रियाँ, मन आदि निमित्त नहीं हैं; परन्तु अल्पज्ञदशा में इन्द्रियाँ, मन निमित्त हैं; अतः उनके द्वारा जानता है, यह बात दूषित है। कोई भी जीव स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श नहीं करता, कान से नहीं सुनता और मन से विचार नहीं करता; परन्तु **जानने का कार्य आत्मा स्वयं से करता है।** 'इन्द्रियों और मन द्वारा ज्ञान हुआ' **यह संयोग बताने के लिये व्यवहारनय से कथन किया है, व्यवहारनय का ऐसा अर्थ समझना और संयोग बिना ही आत्मा ज्ञान करता है, ऐसा निश्चयनय का**

अर्थ समझना। नय के अर्थ शास्त्र नहीं बोलते हैं; परन्तु आत्मा अपने ज्ञान द्वारा भिन्न-भिन्न अपेक्षा समझ लेता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अप्रमाण नहीं हैं; परन्तु प्रमाण ज्ञान हैं, इसप्रकार स्वाश्रय द्वारा यथार्थ समझना चाहिये।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है।

इस पहले बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है — अ=नहीं, **लिंग**= इंद्रियाँ और **ग्रहण**=जानना। अर्थात् आत्मा को इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं होता, अत: **अलिंगग्रहण** है। अत: आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, **ऐसे भाव की प्राप्ति होती है। अतीन्द्रिय ज्ञानमय अर्थात् इन्द्रिय और मन रहित है,** ऐसा निर्णय होता है। कब ? केवलज्ञान होने के बाद? नहीं। केवलज्ञानी तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय ही है; परन्तु छद्मस्थ जीव छद्मस्थदशा में भी इन्द्रियों द्वारा नहीं जानता है। इसप्रकार होने पर भी 'मैं इन्द्रियों से जानता हूँ' ऐसा अज्ञानी अज्ञान के कारण मानता है, यह मान्यता संसार है। अत: जो इन्द्रियों पर से लक्ष हटाकर, ज्ञायकस्वभाव का लक्ष करे, उसे यथार्थ में अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति स्वयं में होती है।

जो स्व को जानता है, वही देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ जानता है।

प्रश्न : इसप्रकार स्वतंत्र मानने से एक-दूसरे की कोई सहायता नहीं लेगा, शुष्क हो जायेगा और देव-शास्त्र-गुरु को नहीं मानेगा तो ?

उत्तर : भाई! ये सब तेरी भ्रमणा है। जो यथार्थ जानता है, वही देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ समझता है; क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि तू तेरे ज्ञायकस्वभाव से जानता है, इन्द्रियों से अथवा देव, शास्त्र, गुरु से नहीं जानता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों की स्व-पर को जानने की शक्ति स्वयं से है। इसप्रकार जो अपने ज्ञानस्वभाव को यथार्थ जानता है वही जीव पर को यथार्थ जानता है। देव-शास्त्र-गुरु आदि पदार्थों का अस्तित्व है, इसलिये पर ज्ञात होते हैं; यह बात सत्य नहीं है, परन्तु **स्व आत्मा को जानने पर स्व में पर पदार्थ ज्ञात होते हैं, ऐसी सच्ची प्रतीति और ज्ञान में ही केवलज्ञान का विकास है।**

देव-शास्त्र-गुरु पर हैं, उन्हें मानना यथार्थ कब कहा जाय ? देव-शास्त्र-गुरु और इंद्रियाँ पर हैं, उनसे मैं नहीं जानता हूँ, परन्तु स्वयं को जानने में पर भी जानने में आ जाता है, इसप्रकार निर्णय करे तो उस जीव ने देव-शास्त्र-गुरु को यथार्थ माना और जाना कहलाता है।

इस प्रमाण से अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होने से परावलंबन छूटकर स्वावलंबन उत्पन्न होता है और उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है।

दूसरा बोल

न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्तेत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः।

अर्थ :- ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है,' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा, इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है।

अब दूसरे बोल में आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है; ऐसा कहते हैं। आत्मा इन्द्रियों से स्व तथा पर को नहीं जानता है; परन्तु स्वयं से स्व-पर दोनों को जानता है, ऐसा पहले बोल में कह आये हैं। अब इस दूसरे बोल में कहते हैं कि प्रमेय ऐसा आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है।

इस दूसरे बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है — अ=नहीं, **लिंग**=मात्र इंद्रियों से, **ग्रहण**=जानना, आत्मा मात्र इंद्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है अर्थात् आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से ज्ञात होने योग्य है।

(१) आत्मा, ज्ञान में ज्ञात ही नहीं होता; इसप्रकार की कुछ जीवों की मान्यता है, वह मान्यता इस (दूसरे बोल से) गलत सिद्ध होती है; क्योंकि आत्मा में भी प्रमेयत्व गुण है और प्रमेयत्व गुण न माने तो गुणी अर्थात् आत्मा के नाश का प्रसंग आता है; अत: यह मान्यता गलत है। **प्रमेयत्व गुण के कारण आत्मा ज्ञान में ज्ञात होता है, ऐसा यह प्रमेय पदार्थ हैं।**

(२) आत्मा, इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसी कुछ जीवों की मान्यता है, वह भी इससे (दूसरे बोल से) गलत सिद्ध होती है; क्योंकि आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से ज्ञात होने योग्य है; परन्तु इंद्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है। ज्ञानस्वभाव आत्मा का है, इन्द्रियों का नहीं है।

शास्त्र तथा वाणी से धर्म नहीं होता।

प्रश्न : भगवान की वाणी अथवा शास्त्र न सुने वह आत्मा को किसप्रकार जान सके; क्योंकि देशनालब्धि मिले बिना तो आत्मा का ज्ञान ही नहीं होता और धर्म प्राप्त नहीं होता है न ?

उत्तर : भाई! वाणी और शास्त्र तो पर हैं, जड़ हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता; उसीप्रकार कान भी जड़ हैं। इन्द्रियों से ज्ञान हो और आत्मा ज्ञात हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। वाणी तथा इन्द्रिय रहित अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से आत्मा ज्ञात होने योग्य है। तथा स्व का ज्ञान करने पर, पर ऐसे शास्त्र और वाणी उनका ज्ञान भी यथार्थ ध्यान में आता है कि पूर्वकाल में शास्त्र तथा वाणी की ओर लक्ष था। स्व-पर प्रकाशक स्वभाव विकसित होते ही पर का यथार्थ ज्ञान होता है। शास्त्र, शब्द, कान, आँख में आत्मा नहीं है तो फिर शास्त्र तथा वाणी द्वारा आत्मा कैसे ज्ञात हो? ज्ञात नहीं ही होगा। परन्तु आत्मा अपने ज्ञायकस्वभाव द्वारा ही ज्ञात हो, ऐसा है। यह बात लोगों ने सुनी ही नहीं है और उनके कानों में पड़ी भी नहीं है। अत: कठिन लगती है।

वाणी से धर्म नहीं होता तो फिर वाणी सुनने की क्या आवश्यकता है ?

प्रश्न : अभी आप ही कहते हो कि कान तथा वाणी से ज्ञान नहीं होता और कहते हो कि यह बात कानों में पहुँची ही नहीं है। तो फिर इस बात को कानों में पहुँचने और सुनने की क्या आवश्यकता है? आप तो ऐसा कहते हो कि कान तथा वाणी से तो आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।

उत्तर : 'कानों में नहीं पड़ी है', ऐसा जो कहा है, वह निमित्त से और संयोग से कहा है, ऐसी बात सुनने को मिली ही नहीं अर्थात् उस जीव की

स्वयं की ऐसी योग्यता भी नहीं है, ऐसा जानना। समय-समय की समझने की पर्याय तो सत् है। वह पर्याय कान तथा शब्द के कारण नहीं है। उसमें उतनी समझने की योग्यता ही नहीं है अर्थात् 'बात कानों में नहीं पड़ी है,' ऐसा कहने में आया है। यह बात जिसके कानों में पड़े और अपने कारण से समझे तो भी वह ज्ञान खंड-खंड वाला है। उससे भी अखंड आत्मा का लाभ नहीं है; क्योंकि अंश से अंशी का लाभ नहीं हो सकता।

खंड-खंड अपूर्ण ज्ञान की योग्यता पर से लक्ष उठा कर अखंड परिपूर्ण आत्मा पर लक्ष करे तो आत्मा को धर्म होता है। तो फिर जिसने खंड-खंड ज्ञानवाली योग्यता भी प्राप्त नहीं की है, जिसको निमित्तरूप से अविरोध वाणी कानों में पड़ी नहीं है अर्थात् व्यवहार से देशना लब्धि का निमित्त प्राप्त नहीं हुआ है, उसे तो धर्म कहाँ से हो? अर्थात् ऐसे जीव को कभी धर्म होगा ही नहीं, यह कहने का भाव है। ऐसा कहकर यहाँ भी उस जीव की योग्यता बतलाना है।

आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

इसप्रकार आत्मा अलिंगग्रहण है। आत्मा इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है अर्थात् इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं है। अतः आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी जीव मानता है कि पर बिना, शब्द बिना, कान बिना आत्मा ज्ञात नहीं होता; परन्तु उसकी मान्यता मिथ्या है। यह मान्यता ही आत्मस्वभाव से विपरीत है। पर बिना ही ज्ञान हो, ऐसा स्वभाव है। आत्मा इंद्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं है; परन्तु ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, उसमें से ऐसा भाव निकलता है।

इन्द्रियों के आश्रय से आत्मा ज्ञात नहीं होता; परन्तु आत्मा के आश्रय से आत्मा ज्ञात होता है, ऐसा ध्यान आते ही इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छूट जाता है और अपने ज्ञानस्वभाव प्रत्यक्ष का श्रद्धा-ज्ञान होने पर धर्म होता है।

तीसरा प्रवचन

ज्ञानस्वभाव में ज्ञात आत्मरूप ज्ञेयपदार्थ कैसा है ?

माघ कृष्णा ४,
रविवार, दि. २५/२/१९५१

आत्मा ज्ञेय है और यह ज्ञान द्वारा ज्ञात होने योग्य पदार्थ है। लिंग द्वारा यह ज्ञात नहीं होता।

बोल १ : आत्मा इंद्रियों से जाने ऐसा यह ज्ञेय पदार्थ नहीं है।

आत्मा को इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता, इस ज्ञेयपदार्थ (आत्मा) का ऐसा स्वभाव है। इस ज्ञेयतत्त्व अधिकार में अलिंगग्रहण कहने का कारण यह है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुणों तथा पर्यायों का पिंड है। यह ज्ञेय पदार्थ इंद्रियों से कार्य करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। इन्द्रिय के अवलम्बन बिना स्वयं से ज्ञान करे, ऐसा उस ज्ञेय का स्वभाव है। **ज्ञेय जिसप्रकार हैं उसप्रकार ज्ञेय का स्वभाव जाने और स्वसन्मुख होकर श्रद्धा करे तो धर्म हो।** विरुद्ध जाने तो धर्म कहाँ से हो? नहीं हो। अतः आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करे, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है।

बोल २ : आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है।

आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है, अंतर्मुख देखने से ज्ञात हो ऐसा है। यह ज्ञेय अधिकार है, अन्य रीति से कथन करें तो सम्यग्दर्शन अधिकार है। इन्द्रियों से ज्ञात हो, वह आत्मा नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय आत्मा है, अतः इन्द्रियों द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता अर्थात् धर्म नहीं होता।

आत्मवस्तु ज्ञेय है। ज्ञेय कहो कि प्रमेय कहो - दोनों एक ही हैं। जगत में जितने स्व-पर प्रमेय हैं वे किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य होते हैं; क्योंकि उनमें प्रमेयत्व नाम का गुण है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करे तो वह प्रमाण नहीं रहता। प्रमेय को ज्ञान में ज्ञात होने योग्य कहा है; परन्तु इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं कहा।

छहों द्रव्य अपने प्रमेयत्व गुण के कारण किसी न किसी ज्ञान के विषय होते हैं, ऐसा कहा है; परन्तु इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हों, ऐसा इनका स्वरूप नहीं है।

आत्मवस्तु ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त शक्तियों का पिंड है। यह प्रमेय, इन्द्रियों का विषय हो, ऐसा नहीं है। आत्मा प्रमाता और प्रमेय दोनों है। जगत के पदार्थ प्रमेय हैं, इन्द्रियाँ प्रमेय हैं। उस प्रमेय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा को जाने और आत्मा स्व-प्रमेय है, उसका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह इन्द्रियों से ज्ञात हों।

प्रश्न : तो फिर इन्द्रियाँ जीव को क्यों मिली हैं? तथा उसे इन्द्रियवाला क्यों कहा है ?

उत्तर : किसी पदार्थ को कोई अन्य पदार्थ मिलता नहीं है। **कोई पदार्थ अन्य पदार्थ में न जाता है न आता है। जगत के ज्ञेयपदार्थ अपने कारण से आते हैं और जाते हैं। परमाणु की पर्याय आत्मा के एक क्षेत्र में आई, उसकी पहिचान कराई है।**

निश्चय से इन्द्रियाँ परमाणु की पर्याय हैं; परन्तु उसकी वर्तमान पर्याय में पुद्गल की अन्यपर्याय से भिन्नता है; अतः उसकी इन्द्रियरूप से पहिचान कराई है। निश्चय से पुद्गल परमाणुओं में अन्तर नहीं है। इन्द्रियज्ञान का कथन व्यवहार से इन्द्रियों का संयोग बताने के लिये है; परन्तु उनसे ज्ञान होता है, ऐसा उसका अर्थ नहीं है। परन्तु जीव के उघाड़ की योग्यता के समय इन्द्रियाँ निमित्तरूप होती हैं, उनका ज्ञान कराया है।

ज्ञान से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा श्रद्धा स्वीकार करती है।

आत्मा स्वयं प्रमेय है। स्वयं इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो, ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं है, अतः यह इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है, परन्तु ज्ञानप्रत्यक्ष का विषय है। यह सम्यग्दर्शन अधिकार है। आत्मा श्रद्धा का अर्थात् सम्यग्यदर्शन का विषय है, अतः श्रद्धा इसप्रकार स्वीकार करती है कि इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा आत्मपदार्थ नहीं है; परन्तु **ज्ञानप्रत्यक्ष से ज्ञात हो, ऐसा आत्मपदार्थ है।** स्वाश्रय द्वारा श्रद्धा का इसप्रकार स्वीकार करना धर्म है। ऐसी श्रद्धा और ज्ञान बिना व्रत-तप आदि सच्चे नहीं हो सकते।

तीसरा बोल

न लिंगादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य।

अर्थ :- जैसे धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है,' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है।

धुएँ द्वारा अग्नि का ग्रहण होता है। जहां धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती ही है। उसीप्रकार बाह्य किन्हीं इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य चिह्न द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता, ऐसा यह ज्ञेय है।

शरीर के हिलने-चलने से, वाणी के बोलने से तथा गर्भ के बढ़ने से उन सर्व चिह्नों से क्या यथार्थ में आत्मा पहिचाना जा सकता है? नहीं, इस लक्षण से आत्मा पहिचाना नहीं जा सकता। जिसप्रकार बुखार का नाप थर्मामीटर द्वारा ज्ञात होता है; उसीप्रकार बाह्य किसी चिह्न से आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। यहाँ यह कहा है कि आत्मा के जानने के लिये इन्द्रियों के अनुमान की आवश्यकता नहीं है।

कोई कहे कि आत्मा, आत्मा के ज्ञान द्वारा पहिचाना जाय और पर पदार्थ इन्द्रियों द्वारा पहिचाने जाँय तो वह स्थूल अज्ञान है। कोई भी पदार्थ इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता, ज्ञान से ज्ञात होता है। तथा आत्मा निश्चय से आत्मा द्वारा पहिचाना जाय और व्यवहार से इन्द्रियों द्वारा पहिचाना जाय, ऐसा जो कहता है यह भी भूल है, यह मिथ्या अनेकान्त है। **आत्मा आत्मा द्वारा ही पहिचाना जाता है और अन्य किसी चिह्न-इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों के अनुमान द्वारा नहीं पहिचाना जाता, यही सम्यक् अनेकान्त है और यही धर्म है।**

इस तीसरे बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है — अ=नहीं, **लिंग**=इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य चिह्न, **ग्रहण**=जानना। अर्थात् आत्मा किसी

इन्द्रियगम्य चिह्न से ज्ञात नहीं होता। जैसे शरीर छोटे से बड़ा होता है, ऐसे बाह्य चिह्न से आत्मा का निर्णय नहीं होता। अतः आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है — ऐसा उसमें से अर्थ निकलता है। आत्मा ऐसा ज्ञेयपदार्थ है कि वह ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है - उसमें इन्द्रिय के अनुमान की आवश्यकता नहीं है।

चौथा बोल

न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य।

अर्थ :- दूसरों के द्वारा — मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है,' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा केवल अनुमान से ही ज्ञात हो, ऐसा वह ज्ञेयपदार्थ नहीं है।

इस चौथे बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=अनुमान ज्ञान और **ग्रहण**=जानना। अर्थात् आत्मा मात्र अनुमान ज्ञान का विषय हो, ऐसा यह ज्ञेय पदार्थ नहीं है। यहाँ 'मात्र अनुमान' कहा है। 'मात्र' कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा आंशिक स्वसंवेदन सहित अनुमान का विषय तो है, परन्तु केवल अनुमान का विषय नहीं है।

यदि आत्मा केवल अनुमान का ही विषय हो तो आत्मा कभी भी प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता। केवलज्ञान में तो वह सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञात होता है और निचली दशा में श्रुतज्ञान में प्रतीति में आता है। साधकदशा में भी मात्र अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं। साधकदशा में मात्र अनुमानज्ञान से ज्ञात होता हो तो स्वसंवेदन आंशिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। और **स्वसंवेदनज्ञान साधकदशा में आंशिक प्रत्यक्ष न हो तो वह बढ़कर संपूर्ण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।** अतः आत्मा साधकदशा में भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमानज्ञान का विषय होता है।

जिनको यह आत्मा जानना है, उन्हें स्वसंवेदनज्ञान होना ही चाहिये तो ही वे जीव इस आत्मा को जान सकते हैं। अन्य जीव स्वसंवेदनसहित

अनुमानज्ञान करके ज्ञान विस्तृत करें और इस आत्मा की पहिचान करें तो ठीक है, परन्तु अन्य जीव स्वसंवेदन बिना मात्र अनुमान से इस आत्मा को पहिचानने जायें तो उनके द्वारा यह आत्मा ज्ञात हो, ऐसा यह ज्ञेय पदार्थ नहीं है।

पांचवाँ बोल

न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्युनमातृमात्रत्वाभावस्य।

अर्थ :- जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा केवल अनुमान से ही जाने, ऐसा यह ज्ञेयपदार्थ नहीं है।

इस पाँचवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=अनुमान ज्ञान, **ग्रहण**=जानना। आत्मा मात्र अनुमानज्ञान से स्वयं को अथवा पर को जाने, ऐसा नहीं है। अतः स्व और पर दोनों को जानने के लिए प्रत्यक्ष स्वसंवेदनज्ञान होना चाहिये। आत्मा स्वयं मात्र अनुमान करनेवाला हो तो कभी भी प्रत्यक्षज्ञान प्रगट नहीं कर सकता। अनुमानज्ञान तो है, परन्तु मात्र अनुमान ज्ञान से प्रत्यक्ष होना माने तो वह यथार्थ नहीं है। **अनुमान के साथ आंशिक स्वसंवेदनज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है और वह बढ़कर संपूर्ण प्रत्यक्ष ऐसा केवलज्ञान होता है** और तब अनुमान का अभाव होता है। अतः यहाँ मात्र अनुमान से नहीं जानता है, ऐसा कहा है।

स्वसंवेदन ज्ञान बिना परपदार्थों का ज्ञान यथार्थ नहीं है।

आत्मा स्वयं को तो अनुमान से नहीं जानता है; परन्तु अन्य जीवों को, शरीर को तथा परपदार्थों को मात्र अनुमान से जाने, ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। केवल अनुमानज्ञान से पर पदार्थों का ज्ञान करना, वह यथार्थ ज्ञान नहीं है। इसप्रकार आत्मा केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है; ऐसे भाव की प्राप्ति होती है।

देव, गुरु, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार तथा निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीवों को केवल अनुमान से जान ले, ऐसा उन ज्ञेयों का स्वभाव नहीं है।

आंशिक स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिये। स्वसंवेदनसहित अनुमान ज्ञान द्वारा जाने, वही यथार्थ ज्ञान कहलाता है। **स्वसंवेदन बिना मात्र अनुमान वह सच्चा अनुमान भी नहीं कहलाता है।**

क्रिया का स्वरूप

प्रश्न : यह सब जानने के पश्चात् हमारी मानी हुई क्रिया करना तो यथार्थ है न? समझपूर्वक क्रिया करने में क्या बाधा है?

उत्तर : समझपूर्वक क्रिया में राग की और शरीर की क्रिया नहीं आती है। आत्मा के भान बिना विधि किसको कहना? जो तुझे सच्ची समझ हुई होगी तो तुझे यह प्रश्न ही नहीं होगा; क्योंकि समझ कहने से उसमें ज्ञान की क्रिया आती है और शरीर तथा राग की क्रिया का निषेध होता है।

प्रश्न : ज्ञानपूर्वक क्रिया में हमारी मानी हुई क्रिया का मिश्रण करें तो ?

उत्तर : भाई, दूधपाक में किंचित् विष मिलते ही सारा दूधपाक विषरूप हो जाता है और खाने के काम में नहीं आता; उसीप्रकार मात्र परलक्षी ज्ञान करके उसके साथ शरीर की तथा राग की क्रिया मिलाना, यह एकांत मिथ्यात्व है।

जीव, शरीर की क्रिया कर ही नहीं सकता है और अपूर्ण दशा में राग होता है, उस राग के करने का अभिप्राय भी ज्ञानी को नहीं है। शरीर और राग का ज्ञाता है, ऐसा आत्मा का स्वरूप है; ऐसा समझना यह समझपूर्वक की क्रिया है। समझपूर्वक की क्रिया कहते ही शरीर की तथा राग की क्रिया का निषेध हो जाता है। आत्मा बाहर के किसी लिंग से ज्ञात नहीं होता, ऐसा यह एक ज्ञेयपदार्थ है। उसका वैसा ज्ञान करना, वही सच्ची क्रिया है।

यहाँ तो ऐसा कहना है कि अनुमानज्ञानमात्र से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। इससे निम्न न्याय फलित होते हैं।

प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान के न्याय

१. अनुमान ज्ञानमात्र से आत्मा ज्ञात होने योग्य हो तो प्रत्यक्ष ज्ञान और उसका विषय (का अस्तित्व) नहीं रहते; परन्तु उसप्रकार नहीं बन सकता।

२. केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और उसमें आत्मा तथा सर्वपदार्थ साक्षात् ज्ञात होते हैं; परन्तु वह वर्तमान में छद्मस्थ को पूर्ण प्रगट नहीं है। जो वह वर्तमान में पूर्ण प्रगट हो तो संपूर्ण आनन्द प्रगट होना चाहिये।

३. साधक को स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान होता है और उसका अनुमानज्ञान प्रमाण है; क्योंकि स्वसंवेदन बिना का मात्र अनुमानज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। अतः **साधकदशा में आंशिक प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों साथ रहते हैं।**

४. साधकदशा में यदि ज्ञान मात्र परोक्ष ही माना जावे तो प्रत्यक्ष कभी नहीं होगा, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः स्वसंवेदन अंश-प्रत्यक्ष का वहाँ अस्तित्व है, वही बढ़कर संपूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान होता है।

५. साधकदशा में अंश प्रत्यक्ष स्वसंवेदनज्ञान है, उसके क्रम-क्रम से बढ़ने पर परोक्ष का अभाव होता जाता है और पूर्ण प्रत्यक्ष होने पर परोक्ष का सर्वथा अभाव होता है।

६. अनुमानज्ञान अकेला हो ही नहीं सकता; क्योंकि अनुमानज्ञान अकेला हो तो वह त्रिकाल रहे और प्रत्यक्ष होने का प्रसंग ही नहीं प्राप्त हो।

७. संपूर्ण प्रत्यक्षज्ञान अकेला हो सकता है; क्योंकि वहाँ परोक्ष का सर्वथा अभाव होता है।

स्वसंवेदन बिना का मात्र अनुमान, वह ज्ञान ही नहीं है। अतः केवल अनुमानज्ञान मात्र से आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है। उसीप्रकार केवल अनुमान मात्र से आत्मा स्व अथवा पर को नहीं जानता है। इस प्रमाण से आत्मा अनुमाता मात्र नहीं है।

मात्र अनुमान से जानने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है, उसीप्रकार मात्र अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा ज्ञेय का स्वभाव नहीं है। इसप्रकार आत्मा केवल अनुमान से ही जाने, ऐसा वह ज्ञेयपदार्थ नहीं है। ऐसा स्व ज्ञेय का यथार्थ स्वरूप जानना, वह धर्म का कारण है।

महामुनि जंगल में निवास करते थे। एक 'अलिंगग्रहण' शब्द में से बीस बोल निकाले हैं। उनमें से शुद्ध आत्मा प्रगट हो, ऐसा है। अत्यंत अद्भुत बात

की है। लौकिक में कोई तैयार करके लड्डू देवे और जिसको वह खाना भी नहीं आता हो, वह मूर्ख है; उसीप्रकार यहाँ अद्भुत रीति से आत्मा प्रगट हो, ऐसा माल प्रस्तुत किया है तो भी जो जीव उसका विचार करके, श्रद्धा करके, स्वरूपानन्द का भोग न करे, वह मूर्ख है।

चौथा प्रवचन

माह वद ५,
सोमवार, दि. २६/२/१९५१

बोल १ : आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है; ऐसा तू जान !

यह आत्मा शरीर आदि से पर है, वह क्या है? शरीर इत्यादि परज्ञेय हैं और आत्मा स्वज्ञेय है। स्वयं को स्वयं द्वारा जानने पर आत्मा स्वरूप से ज्ञात होता है और परपदार्थ पररूप से ज्ञात होते हैं। आत्मा बाह्य लिंग से ज्ञात होने योग्य नहीं है, ऐसा 'तू जान'। यहाँ आचार्य भगवान आदेश करते हैं। यह ज्ञेयरूप आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द, अस्तित्व, विभुत्व, प्रभुत्व आदि अनंत-अनंत शक्तियों का पिंड है और अलिंगग्रहण है, ऐसा 'तू जान'। आत्मा को इन्द्रियों से जानना नहीं होता, इसप्रकार 'तू जान'। आत्मा अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन रहित है, अत: इंद्रियों द्वारा नहीं जानता है; ऐसा तू जान।

श्रीगुरु, शिष्य को कहते हैं कि 'तू जान' तो उससे निर्णय होता है कि आत्मा जान सकता है। **यदि शिष्य आत्मा को जान सके, ऐसा न होता तो श्री गुरु 'तू जान' ऐसा नहीं कहते। 'तू जान' ऐसा कहते ही शिष्य जान सकता है, ऐसा आत्मा है; ऐसा निर्णय होता है।**

आत्मा में जिनका अभाव है; उन इंद्रियों द्वारा आत्मा किसप्रकार जाने ?

यह आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है। वह इन्द्रियों से नहीं जानता है; ऐसा तू जान। **आत्मा में इन्द्रियों का अभाव है। जिस पदार्थ में जिसका अभाव हो, उससे वह काम करे, ऐसा नहीं बन सकता। भगवान आत्मा में इंद्रियों का अभाव है**

और अभाव द्वारा आत्मा को जाने तो ऐसा बने जैसा कि किसी को खरगोश के सींगों से दु:ख उत्पन्न हो। जगत में खरगोश के सींग हैं ही नहीं, तो फिर वे सुख-दु:ख के कारण कैसे हो सकते हैं ? हो ही नहीं सकते हैं।

उसीप्रकार आत्मा में इन्द्रियों का अभाव है तो उन अभावरूप इन्द्रियों द्वारा आत्मा जाने, ऐसा कैसे बन सकता है ? बन ही नहीं सकता। अत: आत्मा अतीन्द्रियस्वभाववाला है; ऐसा तू जान। इसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है।

बोल २ : आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है; ऐसा तू जान।

आत्मा इंद्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता, ऐसा तू जान। इंद्रियाँ उसमें हैं ही नहीं। जो वस्तु जिसमें न हो उसमें वह ज्ञात हो, ऐसा कभी नहीं बन सकता। आत्मा में इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, अत: वह इंद्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वह तो स्वयं ज्ञात होने योग्य है, ऐसा तू जान।

बोल ३ : आत्मा इंद्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है; ऐसा तू जान।

शरीर हिलता है-चलता है, वाणी बोली जाती है, इसलिए आत्मा है; ऐसा इन्द्रिय के प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान करने योग्य आत्मा नहीं है। आत्मा में इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, अत: इन्द्रियप्रत्यक्ष अनुमानज्ञान से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता है; ऐसा तू जान।

जिसप्रकार धूम्र से अग्नि का अनुमान होता है, उसीप्रकार इन्द्रियगम्य किसी भी चिह्न से आत्मा ज्ञात नहीं होता; परन्तु स्वसंवेदनज्ञान से ज्ञात होता है; इसप्रकार तू जान।

'तू जान' में से ऐसा अर्थ निर्णीत होता है कि शिष्य ऐसा है कि आत्मा को जान सके। हीरों के व्यापारी को हीरों की दुकान प्रारंभ करते समय ध्यान में है कि हीरों के ग्राहक संसार में हैं। वे ग्राहक हमारे पास हीरे लेने आयेंगे, ऐसा उसे विश्वास है। परन्तु 'मैं हीरों की दुकान तो करता हूँ; किन्तु कोई ग्राहक हीरे लेने नहीं आवे तो'? ऐसी शंका उसे नहीं होती।

इसीप्रकार आचार्य भगवान ने 'तू जान' ऐसा कहा है तो उनको विश्वास है कि मैं कहता हूँ वैसे आत्मा को जाननेवाले जीव भी हैं। भविष्य में होनेवाले जीव जैसा आत्मा मैं कहता हूँ, वैसा नहीं जानेंगे तो? ऐसी उनको शंका ही नहीं होती। यह बात बहुत सूक्ष्म है और कठिन है, इसलिये ज्ञात नहीं होगी, ऐसा नहीं है। अतः तू जान सकता ही है; ऐसा तू विश्वास कर।

आत्मा स्वतत्त्व है, वह परतत्त्व द्वारा नहीं जानता है, परतत्त्व द्वारा ज्ञात नहीं होता है, उसीप्रकार परतत्त्व के अनुमान द्वारा भी ज्ञात नहीं होता, परन्तु स्वतत्त्व से ही जानता है और ज्ञात होता है; ऐसा तू जान।

बोल ४ : केवल अनुमान से ही ज्ञात हो, ऐसा आत्मा नहीं है; ऐसा तू जान।

अन्य जीव मात्र अनुमान करें और आत्मा ज्ञात हो; ऐसा आत्मा नहीं है। अन्य (जीव) केवल अनुमानज्ञान से निर्णय करें कि यह आत्मा ऐसा है तो वह आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं है। **'राग रहित ज्ञानानंद शुद्ध चैतन्य हूँ', इसके भान द्वारा - स्वसंवेदनज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात हो, ऐसा है।**

पंच परमेष्ठी भगवान मात्र अनुमान से ज्ञात नहीं होते।

अन्य जीव मात्र अनुमान करते हैं और कहते हैं कि ये वीतरागदेव हैं, ये निर्ग्रंथ गुरु हैं तो इसप्रकार से परीक्षा नहीं हो सकती है; ऐसा तू जान। सर्वज्ञ देवाधिदेव, अरहंत तथा सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय, मुनि आदि के आत्मा को जानना हो तो मात्र अनुमान द्वारा ज्ञात हो सके, ऐसा वह आत्मा ही नहीं है।

हीरे की दुकान पर दो पैसे लेकर जावे तो हीरा-मणिक नहीं मिलता और कोई भिखारी भीख मांगे तो उसे लड्डुओं का चूरा मिलता है; परन्तु पूरा लड्डू नहीं मिलता है। पूरा लड्डू मांगने का उसका साहस भी नहीं होता है। उसीप्रकार घर की ऋद्धि, सिद्धि, हीरे आदि हमें दिखाओ ऐसा कहने का साहस भी उसमें नहीं होता है।

उसीप्रकार **मात्र अनुमानज्ञान भिखारी जैसा है, उसके द्वारा हीरे सदृश पंचपरमेष्ठी के आत्माओं की परीक्षा नहीं हो सकती है।** जिसप्रकार भिखारी

में 'हीरा दिखाओ' ऐसा कहने का साहस ही नहीं है; उसीप्रकार **अनुमान ज्ञान में पंचपरमेष्ठियों के आत्माओं की परीक्षा करें, ऐसी शक्ति ही नहीं है।**

अपना आत्मा शुद्धस्वभावी है; उसकी श्रद्धा, ज्ञान तथा राग रहित आंशिक स्वसंवेदन जिस जीव में नहीं है, वह जीव मात्र अनुमानज्ञान से पंचपरमेष्ठियों के आत्माओं को नहीं जान सकता। स्वसंवेदनज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि भले ही शास्त्र का बहुत बड़ा ज्ञाता हो और उस ज्ञान से मात्र अनुमान करे कि अरहंत ऐसे होने चाहिये अथवा मुनि ऐसे होने चाहिये तो उसका वह सर्व अनुमानज्ञान ज्ञान ही नहीं है। उसके द्वारा पंचपरमेष्ठियों की पहिचान हो सके, ऐसा वह आत्मा ही नहीं है; इसप्रकार तू जान।

पंचपरमेष्ठी भगवान स्वसंवेदन ज्ञान से ज्ञात होते हैं।

मात्र अनुमान से पांच परमेष्ठी ज्ञात नहीं होते तो वे आत्माएं किस ज्ञान से ज्ञात होने योग्य हैं? तो कहते हैं कि भाई! **तुझे पंचपरमेष्ठी को जानना हो तो प्रथम तो अपने में स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट कर तो उस ज्ञान से वे ज्ञात होंगे।** आत्मा शरीर तथा इन्द्रिय रहित है, राग रहित है, परपदार्थ तथा मन के अवलंबन से रहित है; ऐसे अपने आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान कर।

१. इसप्रकार स्वसंवेदन सहित ज्ञान को विस्तृत करके अनुमान कर कि मेरे ज्ञान का आंशिक रूप से प्रत्यक्ष उघाड़ है तो वह अंश बढ़कर एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानने योग्य संपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकेगा। तुझे ऐसा विश्वास हुआ तो उससे अनुमान कर कि ऐसे संपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त अरहंत और सिद्ध होने चाहिये और उनकी सर्वज्ञदशा संपूर्ण राग रहित और मन के अवलंबन रहित वह सर्वज्ञदशा एक समय में तीन काल और तीन लोक को जाननेरूप होनी चाहिये।

२. तथा मुझे जिसप्रकार आंशिक स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट हुआ है, उसीप्रकार का राग रहित शुद्ध, निरालंबी तत्त्व आत्मा है, उसका आश्रय करके अपने में भी स्वसंवेदन ज्ञान आंशिक रूप से प्रगट करनेवाले अन्य साधक जीव भी मेरे सदृश होने चाहिये। **जो आंशिकरूप से साधन कर रहे हैं और तत्पश्चात् परिपूर्णदशा प्रगट करेंगे वे साधकजीव आचार्य, उपाध्याय और मुनि हैं।**

इसप्रकार आत्मा के स्वसंवेदनज्ञान को विस्तृत करके निर्णय करे कि पंचपरमेष्ठियों में पूर्ण सर्वज्ञ कैसे होते हैं और अपूर्ण ज्ञानी कैसे होते हैं तो उसका निर्णय सच्चा है और उस ज्ञान में पंचपरमेष्ठी ज्ञात होते हैं। मिथ्यादृष्टि के स्वसंवेदन रहित मात्र अनुमानज्ञान में पंचपरमेष्ठियों की आत्माएं ज्ञात नहीं होतीं। अतः मात्र अनुमानज्ञान को लिंगरूप से कहकर उस लिंग से अन्य आत्माओं का ग्रहण नहीं हो सकता (ज्ञान नहीं हो सकता) ऐसा अलिंगग्रहण का अर्थ, हे शिष्य! तू जान।

स्वसंवेदन रहित मात्र अनुमान प्रमाणज्ञान नहीं है; बल्कि मिथ्याज्ञान है।

१. **प्रत्येक पदार्थ की वर्तमान पर्याय में अपनी योग्यता के कारण कार्य होता है, तब अन्य संयोगी वस्तु को निमित्त कहते हैं।** उपादान में कार्य नहीं हो तो अन्य वस्तु को निमित्त भी नहीं कहते हैं। अर्थात् उपादान में कार्य हुए बिना अन्य संयोगी वस्तु में निमित्तपने का आरोप ही नहीं आता है।

२. **जीव अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निश्चय पर्याय प्रगट करे तो देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाले शुभराग को व्यवहार का आरोप दिया जाता है।** अपने में निश्चय निर्मल पर्याय प्रगट न करे तो पूर्व के राग को व्यवहार नाम भी नहीं दे सकते हैं अर्थात् निश्चय बिना मात्र व्यवहार होता ही नहीं है।

इस न्याय से

३. जीव अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय से स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट करे तो उस स्वसंवेदन सहित के अनुमानज्ञान को अनुमानज्ञान प्रमाण कहते हैं। अपने में स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट न करे तो मात्र अनुमान ज्ञान प्रमाण नहीं कहलाता है; बल्कि वह मिथ्याज्ञान कहलाता है।

भाव नमस्कार का स्वरूप और उसका फल

पंचपरमेष्ठी का आत्मा तेरे मात्र अनुमानज्ञान से ज्ञात नहीं होता है, इसप्रकार तू जान। तुझे पंचपरमेष्ठी को जानना हो और उन्हें भाव नमस्कार करना हो तो जिसप्रकार मुनि सम्यक्श्रद्धा ज्ञानपूर्वक स्थिरता में आगे बढ़ रहे हैं और अरहंत,

सिद्ध पूर्ण परमात्मा हो गये हैं; उसीप्रकार तू भी स्वयं में श्रद्धा-ज्ञान करके स्वसंवेदन प्रगट कर तो उस (स्वसंवेदन) ज्ञानपूर्वक अनुमान कर सकेगा कि सर्वज्ञ भगवान पूर्णदशा को प्राप्त हुए हैं।

पुण्य, व्यवहार और विकल्प की एकता रहित और ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव की एकता सहित ज्ञान, यही ज्ञान यथार्थ है, ऐसा तू जान। ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान होने के पश्चात् यथार्थ अनुमानज्ञात होता है कि सर्वज्ञ पूर्णपद को प्राप्त हो गये है तथा साधक आंशिक रूप से साधना कर रहे हैं और आगे बढ़कर उस पूर्णपद को प्राप्त करेंगे। इसप्रकार पंचपरमेष्ठियों का, जोकि पर आत्मायें हैं, उनका ऐसा प्रमेय-धर्म है, ऐसा तू जान।

पंचपरमेष्ठियों का प्रमेय-धर्म ऐसा है, इसप्रकार जो जीव जानता है, उसने पंचपरमेष्ठियों को यथार्थ रूप से पहिचाना है और उसने ही सच्चा भाव नमस्कार किया है।

प्रश्न : इतना सब विस्तार जानने में तो हमारी मानी हुई सब क्रियाएं समाप्त हो जायेंगी ?

उत्तर : भाई! तुझे शांति और सुख चाहिये न? धर्म करना है न? धर्म कहो, शांति कहो, सुख कहो — ये सब एक ही हैं। **वह शांति, सत्यवस्तु की शरण से मिलती है,** परन्तु असत्यवस्तु की शरण से नहीं मिलती है। अतः वस्तु जिसप्रकार है उसीप्रकार सत्य जान और स्वसंवेदनज्ञान द्वारा अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव कर। यही शांति का कारण है और यही बढ़ते-बढ़ते परिपूर्ण केवलज्ञान होकर सम्पूर्ण सुख और शांति प्रगट होगी, यही धार्मिक क्रिया है।

बोल ५ : आत्मा मात्र अनुमान करनेवाला ही नहीं है, ऐसा तू जान।

चौथे बोल में कहा था कि अन्य जीव तेरे आत्मा को अथवा पंचपरमेष्ठी के आत्मा को मात्र अनुमान द्वारा जानने का प्रयत्न करें तो वे ज्ञात नहीं होंगे। अब यहाँ पाँचवें बोल में कहते हैं कि तू स्वयं कैसा है? तू केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है। आत्मा मात्र अनुमान करनेवाला हो तो अनुमानरहित प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट करने का अवसर नहीं आयेगा। जिसप्रकार जो पुण्यपाप भाव का ही मात्र कर्त्ता और उसी को सर्वस्व माननेवाला है, उसे

आत्मा नहीं कहते। उसीप्रकार मात्र अनुमानज्ञान करनेवाले को आत्मा ही नहीं कहते। इससे निम्न न्याय निकलते हैं –

१. यदि आत्मा की वर्तमान पर्याय में प्रगट केवल प्रत्यक्षज्ञान हो तो वर्तमान में छद्मस्थ को जो ज्ञान की हीनता दिखाई देती है, वह नहीं होनी चाहिये; परन्तु वर्तमान में ज्ञान की हीनता दिखाई देती है, अतः छद्मस्थ को वर्तमान पर्याय में केवल प्रत्यक्षज्ञान नहीं है; ऐसा निर्णय होता है। अतः कोई ऐसी दशा होनी चाहिये, जिसमें आंशिक प्रत्यक्ष और आंशिक परोक्ष ज्ञान हो सकता हो, वह साधकदशा है।

२. तथा **साधकदशा में आंशिक प्रत्यक्ष और आंशिक परोक्ष ज्ञान न हो तो आंशिक प्रत्यक्षज्ञान बढ़कर कभी भी संपूर्ण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है** और परोक्ष का अभाव नहीं हो सकता है। अतः साधकदशा में आंशिक प्रत्यक्षज्ञान है, ऐसा निर्णय होता है।

३. साधकदशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय आंशिक प्रगट है, उस समय देव-शास्त्र-गुरु आदि के प्रति रागरूपी व्यवहार सहचर होता है।

इस न्याय से

साधकदशा में अपने स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान सहित स्व-संवेदन आंशिक प्रत्यक्षज्ञान पर्याय में प्रगट होता है, उस समय अनुमानज्ञान भी आंशिक परोक्ष उस ही पर्याय में सहवर्ती होता है।

४. तथा जब विशेष पुरुषार्थ होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सम्पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तब देव-शास्त्र-गुरु के प्रति शुभरागरूपी व्यवहार का सर्वथा अभाव होता है और निश्चय मात्र रहता है।

तात्पर्य **साधकदशा में ज्ञानस्वभावी आत्मा में सम्पूर्ण एकाग्रता होने पर सम्पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट होता है,** उस समय परोक्षज्ञान का सर्वथा अभाव होता है और सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानमात्र रहता है।

इस पाँचवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है – अ=नहीं, **लिंग**=केवल अनुमान मात्र, **ग्रहण**=जानना। तू केवल अनुमाता मात्र नहीं है।

ऊपर कहे अनुसार अनुमानमात्र हो तो कभी भी केवलज्ञान नहीं होगा। अतः साधकदशा में स्वसंवेदन सहित अनुमान है। तेरा ज्ञान स्व अथवा पर को जानने में स्वसंवदेन सहित कार्य न करे तो तेरा जानना यथार्थ नहीं है। तथा तेरा आत्मा ज्ञाता के अतिरिक्त ज्ञेय भी है। वह मात्र अनुमान करनेवाला नहीं है; परन्तु समस्त जगत के स्व तथा पर, जड़ तथा चेतन सर्व पदार्थों को स्वसंवेदन ज्ञानपूर्वक जानता है; ऐसा इस ज्ञेय आत्मा का स्वभाव है, ऐसा तू जान।

'तू जान' का रहस्य

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने गाथा में **जाण** ऐसा कहा है। तत्पश्चात् श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इतना विस्तार करके 'अलिंगग्रहण' के बीस बोलों से भिन्न-भिन्न भाव समझाकर आत्मा को ऐसा जान — इसप्रकार कहा। वे पंचमकाल के मुनि हैं। पंचमकाल कठिन है, अतः ये शब्द क्या चौथे काल के जीवों के लिये होंगे? भाई ! ऐसी बात नहीं है। यह पाठ तथा टीका पंचमकाल के जीव नहीं समझ सकते होते तो 'तू जान' ऐसा आदेश कैसे करते? भाई ! पंचमकाल के जीवों के लिये ही यह टीका की है और इसे जीव समझ लेगें — ऐसा उन्हें विश्वास है। सहज योग बन गया है। **ज्ञानी पुरुष 'तू जान' कह कर आदेश दें, तब उनके रहस्य के ज्ञाता न हों, ऐसा नहीं बन सकता है।** समझानेवाले और समझनेवाले दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध है। आचार्य ने कहा है कि 'तू जान' अतः मैं मेरे आत्मा को जान सकता हूँ, इसमें कोई काल बाधा नहीं करता है। इसप्रकार विचार कर आत्मा का स्वरूप यथार्थ समझने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

जिसप्रकार पुण्य-पाप से लाभ होता है, ऐसा माननेवाला जीव आत्मा को नहीं जानता है; उसीप्रकार इन्द्रियों से ज्ञान होता है और अनुमातामात्र आत्मा है, इसप्रकार माननेवाला जीव भी आत्मा को नहीं जानता है। जीव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करे तो धर्म हो।

ये पांच बोल पूर्ण हुए। इनमें नास्ति से कथन किया है। अब छठवें बोल में अस्ति से कथन करते हैं।

छठवाँ बोल

न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य।

अर्थ :- जिसका लिंग के द्वारा नहीं; किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है; ऐसा तू जान।

आत्मा किसी बाह्य चिह्न अथवा अनुमान आदि उपरोक्त पांच लिंगों द्वारा ज्ञात नहीं होता; परन्तु स्वभाव द्वारा ज्ञात होता है। **आत्मा स्वभाव द्वारा ज्ञात होता है - ऐसा कहते ही वह परोक्ष अनुमानमात्र से ज्ञात होने योग्य नहीं है; उसीप्रकार इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से भी ज्ञात होने योग्य नहीं है; ऐसा नास्ति का कथन भी उसमें गर्भित है।** यहाँ तो अस्ति से यह बोल कहा है।

परोक्षता होने पर आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है; ऐसा क्यों कहा ?

यहाँ तो साधकदशा की बात है। केवली को समझना शेष नहीं रहता; क्योंकि वे तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञाता हो गये हैं। तब यहाँ इस बोल में ऐसा कहा है कि 'प्रत्यक्ष ज्ञाता है ऐसे भाव की प्राप्ति होती है' उसका क्या अर्थ है? प्रत्यक्ष ज्ञाता तो केवली होता है फिर भी यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञाता कहा है; क्योंकि **साधकजीव अपने आत्मा को प्रत्यक्ष ज्ञाता मानता है। साधक को परोक्षता आंशिक है, उसकी यहाँ गौणता है। प्रत्यक्ष की मुख्यता है।** जो अपने आत्मा को रागरहित तथा मन के अवलम्बनरहित, प्रत्यक्ष ज्ञाता नहीं मानता है, उसको धर्म कभी भी नहीं होता है।

यहाँ कहा है कि आत्मा इन्द्रियों से स्व-पर को नहीं जानता है, आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता है, आत्मा इन्द्रियगम्य चिह्नों से ज्ञात नहीं होता है, आत्मा केवल अनुमान ज्ञान से ज्ञात नहीं होता है और आत्मा केवल अनुमान ज्ञान से स्व-पर को नहीं जानता है। इन पांच लिंगों द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता; अतः आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसे भाव की प्राप्ति होती है।

आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान का फल केवलज्ञान है।

जिसप्रकार कोई जीव राग को अपना स्वरूप माने तो कभी भी रागरहित नहीं हो सकता है, परन्तु **राग होने पर भी उसी समय स्वयं का त्रिकाली स्वरूप रागरहित है; ऐसा यदि श्रद्धा-ज्ञान करता है तो आंशिक वीतरागता प्रगट होती है और तत्पश्चात् स्थिरता बढ़ते-बढ़ते परिपूर्ण वीतराग दशा प्रगट होती है।**

इस न्याय से

परोक्ष ज्ञान आत्मा का स्वभाव हो तो परोक्षरहित कभी भी नहीं हो सकता है; क्योंकि जो वस्तु सदाकाल अपनी हो, वह कभी उससे पृथक् नहीं हो सकती है। परन्तु परोक्षज्ञान का अभाव करके संपूर्ण प्रत्यक्षज्ञान प्रगट करके अनेक जीव सर्वज्ञ हो गये हैं; अतः परोक्षज्ञान आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है; ऐसा निर्णय होता है। अतः उपरोक्त पांच लिंग से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है तो आत्मा कैसा है? आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। **वर्तमान में परोक्षज्ञान होने पर भी मेरा स्वभाव प्रत्यक्ष ज्ञाता है; ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करता है तो स्वयं में आंशिक प्रत्यक्षज्ञान प्रगट होता है और विशेष बढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।**

इस छठवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है — अ=नहीं, **लिंग**=मात्र परोक्ष ज्ञान से, **ग्रहण**=जानना। आत्मा केवल परोक्ष रहनेवाला नहीं है, वह प्रत्यक्ष ज्ञाता है।

क्रिया का स्वरूप

प्रश्न : इतना समझने के पश्चात् प्रोषध, प्रतिक्रमण आदि की क्रिया करना तो चाहिए न ?

उत्तर : भाई! शरीर की क्रिया तो आत्मा कभी नहीं कर सकता है। भक्ति आदि का शुभभाव पुण्यास्रव है, वह विकारी क्रिया है, विभावभाव है। जो स्वभाव से विरुद्ध भाव है, वह स्वभाव को किसप्रकार सहायता करे? करे ही नहीं। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है; परन्तु उससे धर्म मानना अथवा उसे धर्म में सहायक मानना मिथ्या है। आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता-दृष्टा है;

ऐसा प्रथम श्रद्धा-ज्ञान करना, वह प्रथम धार्मिक क्रिया है और तत्पश्चात् उसमें एकाग्रता करके प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रगट करना, वह मोक्ष की क्रिया है।

सच्ची श्रद्धा के फलरूप से केवलज्ञान अकेला रहता है।

यहाँ तो प्रत्यक्ष ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा करने की बात है तथा जिसप्रकार साधकदशा पूर्ण होने पर केवल निश्चय रहता है और व्यवहार का अर्थात् राग का अभाव होता है, परन्तु केवल व्यवहार रहता हो, ऐसा कभी नहीं बनता है; उसीप्रकार केवल अनुमानज्ञान रहता हो, ऐसा कभी नहीं बनता है; परन्तु **आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, उसमें सम्पूर्ण एकाग्र होने पर सर्व प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होता है और वह सदा अकेला रहता है, ऐसा बन सकता है**; परन्तु परोक्षज्ञान का तो सर्वथा अभाव हो जाता है। इसप्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। इस अर्थ का भाव जो जीव स्वयं में उतारता है (स्थापित करता है), वह जीव पर्याय में प्रत्यक्ष ज्ञाता हो सकता है।

प्रश्न : ऐसे भाव की प्राप्ति किसको होती है? भगवान को?

उत्तर : भगवान को तो प्राप्ति हो चुकी है; उनको कुछ करना शेष नहीं रहता है। जिसको प्रत्यक्षज्ञान आंशिक भी नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे यहाँ आत्मा ही नहीं गिना है। उसे तो पता ही नहीं है कि मुझ में ऐसी ऋद्धियाँ भरी पड़ी हैं; परन्तु साधकजीव विचार करता है कि मेरा आत्मा राग रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञाता है। वह देह, मन, वाणी, देव-शास्त्र-गुरु तथा शुभराग आदि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता है, मात्र अपने आत्मा की ही अपेक्षा रखता है। उसके ज्ञान के लिये किन्ही बाह्य लिंगों की आवश्यकता नहीं है। वह मात्र प्रत्यक्षज्ञाता स्वरूप है। ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करके धर्मदशा को प्राप्त करता है। इसप्रकार धर्मात्मा जीव, 'अलिंगग्रहण' शब्द जो कि वास्तव में वाचक है, उसमें से वाच्य-भाव इसप्रकार निकालता है।

आचार्य भगवान भी शिष्य को यही भाव कहते हैं कि हे शिष्य! तेरा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है, ऐसा तेरा स्व ज्ञेय है; ऐसा तू जान।

सातवाँ बोल

न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य।

अर्थ :- जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेयपदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

उपयोग को ज्ञेयपदार्थों का अवलंबन नहीं है; ऐसा तू जान।

पहले पाँच बोलों में द्रव्य का (आत्मा का) नास्ति से कथन किया है। आत्मा किसी बाह्य चिन्ह से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है; इसप्रकार नास्ति से आत्मद्रव्य का कथन किया। छठवें बोल में आत्मद्रव्य की अस्ति से बात कही थी। अब **सातवें बोल में आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय-उपयोग का कथन करते हैं।**

यहाँ लिंग का अर्थ उपयोग कहा है। जिसको लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा को बाह्य पदार्थों के अवलंबनवाला ज्ञान नहीं है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

प्रश्न : देव-शास्त्र-गुरु आदि ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है तो मंदिर तथा पंचकल्याणक आदि क्यों कराये ?

उत्तर : धर्मात्मा जीव स्वभाव का अवलंबन लेता है और स्वभाव का बहुमान करता है। साधक जीव को अशुभ से बचने के लिये शुभराग आता है; उस समय किसप्रकार के निमित्त होते हैं, उनका ज्ञान कराया है; परन्तु इस कारण उनका ज्ञान देव, गुरु अथवा मंदिरों का अवलंबन करता है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु से ज्ञान नहीं होता है; क्योंकि वे तो परज्ञेय हैं अर्थात् धर्मात्मा जीव उनका अवलंबन ही नहीं करता है।

तथा वह देव, शास्त्र, गुरु को निश्चय से वंदन ही नहीं करता है; परन्तु अपने स्वभाव की वंदना करता है। विकल्प उठता है तब देव, गुरु की ओर

लक्ष जाता है तो भी उस समय भी अपने स्वभाव के बहुमान से च्युत नहीं होता है।

इस समय सत् की बात दुर्लभ हो गयी है। सत्य बात बाहर प्रगट हो तो समझनेवाले और विरोध करनेवाले दोनों होते हैं। इस समय की क्या बात करें, परन्तु **भगवान् ऋषभदेव की वाणी खिरने से पहले युगलियों को एक देवगति ही होती थी। जीव भी ऐसे ही परिणाम संयुक्त थे, परन्तु जब ऋषभदेव भगवान की वाणी खिरी और कानों में पड़ी, तभी चारों गतियाँ प्रारम्भ हो गईं।** २४ दंडक में और सिद्धगति में जानेवाले हुए। कोई सिद्धगति में जानेवाले हुए, कोई साधक हुए और कोई नरक-निगोद में जानेवाले भी हुए। वाणी के कारण उसप्रकार नहीं हुआ; परन्तु सब की अपनी-अपनी योग्यता अनुसार हुआ। भगवान के समय जब ऐसा हुआ तो अभी ऐसा हो तो उसमें क्या नवीनता है?

उपयोग पर का आलंबन नहीं लेता है।

यहाँ उपयोग का कथन होता है। उपयोग चैतन्य का लक्षण अथवा चिह्न है। उपयोग आत्मा का अवलंबन करता है। आत्मद्रव्य भी ज्ञेय है, गुण ज्ञेय है और पर्याय भी ज्ञेय है। उपयोग भी ज्ञेय है। उपयोग का स्वभाव जानने-देखने का है, वह परज्ञेयों का अवलंबन नहीं करता है; क्योंकि परज्ञेयों में उपयोग नहीं है। जो जिसमें नहीं होता है, उसका अवलंबन वह किसप्रकार लेगा? परज्ञेयों में जानने-देखने का स्वभाव अर्थात् उपयोग नहीं है। अतः पर का अवलंबन लेवे, ऐसे उपयोग का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न : हम तो व्रतधारी हैं, प्रतिमाधारी है, उपदेशक हैं, अतः हमें यह सब सुनने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है; क्योंकि हमारी जो मान्यता है उसमें हमें भूल नहीं दिखाई देती है।

उत्तर : मेरे में भूल नहीं है; ऐसा माननेवाला कभी भी भूलरहित नहीं होता है। मेरे में हीनता है, ऐसा जो जानता है, उसे हीनता दूर करके अधिक होने का प्रसंग बन सकता है; परन्तु हीनता ही नहीं है, इसप्रकार कहता है तो हीनता दूर करने का प्रश्न ही नहीं है। संसारी जीवों को, जब तक वीतराग न हो,

तब तक भूल होती है। **भूल स्वयं में है, इसप्रकार स्वीकार करे तो भूल दूर कर सकता है;** परन्तु मुझमें भूल ही नहीं हैं, मैं तो भूल रहित हूँ, इसप्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड के अभिमान से माने तो भूल रहित होने का प्रसंग ही नहीं बनता है। अर्थात् उसका संसार दूर नहीं होता है, अतः **जीव को स्वयं की भूल कहाँ है? उसे जानकर, उसे स्वीकार करके, उसके दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।**

यहाँ उपयोग का लक्षण जानना-देखना है और वह लक्षण लक्ष्य का अर्थात् आत्मा का ज्ञान कराता है, ऐसा कहा है।

प्रश्न : आत्मा का उपयोग अनादि से पर की ओर है; परन्तु वह सुधरेगा कब ? शुभराग के अवलंबन अथवा देव-शास्त्र-गुरु के अवलंबन से सुधरेगा अथवा नहीं ?

उत्तर : उपयोग की पर्याय अकारणीय है। शुभराग के अवलंबन से अथवा देव-शास्त्र-गुरु के अवलंबन से उपयोग सुधरेगा, ऐसा मानना यह भ्रम है। उपयोग तो मात्र आत्मा का अवलंबन लेता है। **जिसप्रकार आत्मद्रव्य अकारणीय है, उसका गुण अकारणीय है, उन्हें कोई कारण नहीं है, उसीप्रकार पर्याय भी अकारणीय है।** उपयोग वह ज्ञानगुण की पर्याय है, उसका कोई कारण नहीं है। उपयोग की पर्याय देव-शास्त्र-गुरु अथवा शुभराग का कारण होने पर वह सुधर जाय, ऐसा कभी नहीं बनता है। **उपयोगरूप पर्याय भी अकारणीय है, अतः अपने शुद्ध आत्मा का अवलंबन लेने से ही उपयोग सुधरता है।**

ज्ञान ज्ञेयों से स्वतंत्र है।

आत्मा को परज्ञेयों का अवलंबन तो है ही नहीं; परन्तु उसकी ज्ञानपर्याय-उपयोग है, उसे भी ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है। उपयोग का जानने-देखने का स्वभाव है, वह ज्ञेयों के कारण नहीं जानता है, उपयोग का ऐसा स्वरूप है - इसप्रकार इस ज्ञेय को तू जान। उपयोग अकारणीय है, ऐसा जान। उपयोग में परज्ञेयों का अभाव है तो उनका अवलंबन किसप्रकार हो ? होता ही नहीं; परन्तु व्यवहार का कथन होता है, वहाँ जीव अज्ञान के कारण भूल कर बैठते हैं।

प्रश्न : ज्ञान ज्ञेयों का अवलंबन तो करता है न ?

उत्तर : जब ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है तब ज्ञेय होते हैं; इसप्रकार निमित्त का ज्ञान कराया है, परन्तु;

१. जगत में अनन्त ज्ञेय हैं; उनके अवलंबन से ज्ञान होता है; ज्ञान ऐसा पराधीन नहीं है।

२. जीव वर्तमान में ज्ञान करता है। अतः ज्ञेयों को आना पड़ता है, ऐसा भी नहीं है, दोनों स्वतन्त्र हैं।

३. उपयोग उन ज्ञेयों का आधार लेता है तो सुधरता है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि **ज्ञान कभी भी ज्ञेयों का आधार नहीं लेता है।**

४. परज्ञेय जगत में अनन्त हैं, अतः उपयोग पर को जानने का कार्य करता है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि **उपयोग का स्वभाव स्व-पर दोनों का जानने का है, पर है उसके कारण नहीं।** उपयोग स्वतंत्र अपने आत्मा के आधार से कार्य करता है।

एकांत पर लक्षी ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है।

परपदार्थ को ही मात्र लक्ष में लेकर, पर के अवलंबन से प्रगट होनेवाला ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है। निमित्तों के अवलंबन सहित, मन के अवलंबन सहित, इन्द्रियों के अवलंबन सहित, पंचपरमेष्ठी के अवलंबन सहित, शास्त्र के अवलंबन सहित — ऐसे एकांत परलक्षी ज्ञान को ज्ञान ही नहीं कहा है; परन्तु उसे मिथ्याज्ञान कहा है, उसे यहाँ उपयोग में समाविष्ट नहीं किया है।

साधकदशा में व्यवहार और निमित्त का स्वरूप

शुद्ध आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके जो ज्ञान स्व सन्मुख झुकता है, उसीको यहाँ ज्ञान कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवों को जबतक परिपूर्ण वीतराग दशा न हो तबतक शुभराग आता है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने का विकल्प उठता है। **राग की भूमिका होने से पर की ओर लक्ष जाता है; परन्तु देव-शास्त्र-गुरु हैं, इसलिये पर की ओर लक्ष जाता है; ऐसा धर्मात्मा जीव नहीं मानता है।**

साधकदशा में निश्चय के साथ व्यवहार होता है और उस समय सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का लक्ष होता है; परन्तु कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानने का लक्ष ही नहीं होता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं, अतः शुभराग होता है, ऐसा नहीं है; परन्तु निश्चय के भानसहित जीवों को रागयुक्तदशा होने पर राग का तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाया है।

प्रश्न : सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को मानने का शुभरागरूप व्यवहार भी बंध का कारण है और कुदेव आदि को मानने का अशुभरागरूप व्यवहार भी बंध का कारण है तो दोनों व्यवहार में कोई अन्तर रहता है या नहीं?

शुभराग तथा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

उत्तर : हां, दोनों प्रकार का राग निरर्थक ही है, दोनों बंध का कारण है, आत्मा को किसी भी राग से मोक्षमार्ग का धर्म नहीं होता है। जिसप्रकार पानी पानी के आधार से है तो भी पानी भरने के लिये घड़ा होता है; परन्तु कोई कपड़े में पानी नहीं भरता है, ऐसा वहाँ निमित्त का सुमेल है; उसीप्रकार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु संबंधी शुभराग और कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु संबंधी अशुभराग - दोनों राग चैतन्य की जाति के लिये निरर्थक हैं, दोनों बंध के कारण हैं; तो भी साधक जीव को शुभराग के समय सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्तरूप होते हैं। **शुभराग होता है, अतः सच्चे देव-गुरु को आना पड़ता है, ऐसा नहीं है। सच्चे देव-गुरु हैं, इसलिये शुभराग हुआ है; ऐसा भी नहीं है तो भी शुभराग में सच्चे देव-गुरु ही निमित्त होते हैं, अन्य नहीं होते —ऐसा सुमेल है।**

ज्ञान उपयोग को शुभराग का अवलंबन नहीं है।

यहाँ तो विशेष यह कहना है कि **विकल्पवाली दशा में राग होने पर भी धर्मात्मा जीव के ज्ञान उपयोग को राग का अवलंबन नहीं है। उस समय भी स्वयं का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, उसका ही उपयोग अवलंबन करता है।** राग भी ज्ञेय है और उस ज्ञेय का ज्ञान में सदाकाल अभाव है, अतः उपयोग रागरहित है।

ज्ञेय ज्ञेय में हैं, ज्ञेय ज्ञान उपयोग में नहीं है।

प्रश्न : ऐसा कहकर तो आपने सब ज्ञेयों को निकाल दिया ?

उत्तर : ज्ञेयों को निकालने का प्रश्न ही नहीं उठता है; क्योंकि जो वस्तु किसी में मिश्रित हो गई है — प्रवेश कर गई हो, उसे निकालने का प्रश्न उठता है, परन्तु जो वस्तु जिसमें नहीं होती, उसे निकालने का प्रसंग ही नहीं रहता है। पंचपरमेष्ठी आदि परज्ञेय उनमें हैं, उनका ज्ञान उपयोग में अभाव है। शुभराग भी ज्ञेय है, उस शुभराग का भी ज्ञान उपयोग में अभाव है। उपयोग स्व-आत्मा का है, उसे आत्मा में रखा है, ऐसा कह सकते हैं।

इस सातवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=उपयोग, **ग्रहण**=ज्ञेयपदार्थों का आलंबन। उपयोग को ज्ञेयपदार्थों का आलंबन नहीं है, 'अलिंगग्रहण' का यहाँ ऐसा अर्थ होता है।

जिस उपयोग को यहाँ ज्ञेयपदार्थों का आलंबन नहीं है; परन्तु स्व का आलंबन है, ऐसे उपयोग लक्षणवाला तेरा आत्मा है, इसप्रकार तेरे स्वज्ञेय को तू जान। इसप्रकार तेरे आत्मा को बाह्य पदार्थों के आलंबनयुक्त ज्ञान नहीं है; परन्तु स्वभाव के आलंबनयुक्त ज्ञान है — ऐसा तेरे आत्मारूप स्वज्ञेय को तू जान।

आठवाँ बोल

न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य।

अर्थ :- जो लिंग को अर्थात् उपयोगनामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है'; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा उपयोग को बाहर से नहीं लाता है; ऐसा तू जान।

इस आठवें बोल में उपयोग बाहर से नहीं लाया जाता, ऐसा कहते हैं। अनादि से मिथ्यादृष्टि का उपयोग परसन्मुख था, वह अब स्वयं कोई सत् समागम करे,

वाणी सुने, इत्यादि शुभभाव करे तो उपयोग सुधरेगा कि नहीं? नहीं सुधरेगा। **उपयोग कहीं बाहर से नहीं लाया जाता, वह क्रमशः अंतर में से प्रगट होता है, बाह्य किसी कारण में से प्रगट नहीं होता है, अतः अकारणीय है।**

इसप्रकार आत्मा के उपयोग की यथार्थ श्रद्धा करना - ज्ञान करना, वह धर्म का कारण है।

पाँचवां प्रवचन

माघ कृष्ण ६,
मंगलवार, दि. २७/२/१९५१

ज्ञानोपयोग निरावलंबी है, ऐसा तू जान।

बोल १. आत्मा द्रव्य है, वह स्वयं इन्द्रियों से स्व तथा पर को जाने, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है।

बोल २. आत्मा स्वयं इन्द्रियों से ज्ञात हो, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है।

बोल ३. धूम्र द्वारा अग्नि ज्ञात हो, उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियों के अनुमान से ज्ञात हो, उसका ऐसा स्वभाव नहीं है।

बोल ४. अन्य द्वारा आत्मा केवल अनुमान से ज्ञात हो, वह ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं है। अन्य जीव रागरहित स्वसंवेदनज्ञान द्वारा आत्मा को जाने तो वह ज्ञात हो सकता है।

बोल ५. स्वयं अन्य आत्मा को केवल अनुमान से जाने, स्वयं का ऐसा स्वभाव नहीं है, वह स्वसंवेदन से जान सकता है।

बोल ६. आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। परपदार्थ की अपेक्षारहित, इन्द्रिय तथा मन के अवलंबनरहित, स्वयं स्वयं को प्रत्यक्ष जाने, ऐसा उसका ज्ञातास्वभाव है।

बोल ७. छह बोलों में द्रव्य का कथन किया है। सातवें बोल में ज्ञान उपयोग का कथन करते हैं। उपयोग भी ज्ञेय है। उस ज्ञेय का स्वभाव कैसा है, वह कहते हैं —

पहले ज्ञान हीन था और तत्पश्चात् वृद्धिंगत हो गया तो वह निमित्त तथा बाह्य पदार्थ थे; अत: वह बढ़ा ? अथवा वह पदार्थों का अवलंबन लेता होगा ? तो कहते हैं—नहीं, वह उपयोग परपदार्थ का अवलंबन नहीं लेता है। उसीप्रकार ज्ञान में जो ज्ञेय निमित्त होते हैं, उन ज्ञेयों का अवलंबन करके ज्ञान नहीं होता है, वह ज्ञान अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के ही अवलंबन से होता है।

बोल ८. ज्ञान उपयोग की वृद्धि बाह्य में से नहीं आती है, ऐसा तू जान।

जो लिंग अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता है अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाया जाता है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा, जिसे कहीं से नहीं लाया जाता, ऐसे ज्ञानवाला है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

पहले ज्ञान की पर्याय में हीनता थी, तत्पश्चात् दूसरे समय ज्ञान में वृद्धि हुई, वह वृद्धि क्या बाहर से आई ? सातवें बोल में कहा था कि ज्ञान उपयोग को देव-शास्त्र-गुरु का आलंबन नहीं है तो उनके आश्रय बिना यह किसप्रकार वृद्धिंगत हुआ ?

भाई ! वह बाहर से नहीं आता है, अन्तर तत्त्व में से आता है। अब आठवें बोल में कहते हैं कि ज्ञान पर में से लाया नहीं जाता, जो ज्ञान का व्यापार ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव का अवलंबन छोड़कर निमित्त का लक्ष करता है, उसको ज्ञान उपयोग ही नहीं कहते हैं। जिसप्रकार इन्द्रियों से ज्ञान करे, वह आत्मा नहीं कहलाता, उसीप्रकार जो उपयोग पर का अवलंबन ले, उसे उपयोग नहीं कहते हैं।

अज्ञानी तर्क करता है कि द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध एकरूप हैं, उसको अवलंबन नहीं होता, ऐसा कथन तो ठीक है; परन्तु एक के बाद एक होती हुई पर्याय में एकरूपता नहीं रहती और ज्ञान की विशेष-विशेष निर्मलता अनेकप्रकार की होती है, वह क्या ज्ञेयों के आधार से होती होगी ? मन तथा शुभराग का अवलंबन है; इसलिये, शुद्धता बढ़ी है न ? नहीं; वह निर्मलता

की वृद्धि परपदार्थों में से अथवा शुभराग में से नहीं आती है। वह अपने शुद्ध द्रव्यस्वभाव में से ही आती है, अन्तर परिणमन की एकाग्रता बढ़ते-बढ़ते बाह्य में प्रगट दिखाई देती है।

ज्ञान के वैभव का कारण पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार क्यों कहा ?

प्रश्न : यदि यह कहते हो कि निर्मलता अंतर में से प्रगट होती है तो कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने समयसार गाथा ५ में कहा है कि हमारे स्वसंवेदन ज्ञान का जन्म पूर्वाचार्यों के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से हुआ है और आचार्यों की परम्परा से यह वैभव हमें मिला है — ऐसा कैसे कहा ?

उत्तर : जब कोई भी ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव चेतन के आश्रय से अपने ज्ञान की अत्रुट धारा टिकाये रखता है; तब अपने ज्ञान में निमित्तरूप हुए पूर्व आचार्य कैसे थे, उन निमित्तों का ज्ञान कराते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वयं स्वयं का ज्ञानप्रवाह उत्तरोत्तर टिकाये रखता है, तब क्या-क्या निमित्त थे, उनका ज्ञान कराते हैं। जिसप्रकार ज्ञानियों की परम्परा में उत्तरोत्तर ज्ञान टिकाये रखने में संधि है, उसीप्रकार उनके निमित्तों की परम्परा में उत्तरोत्तर संधि बतलाकर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कथन किया है।

ज्ञान उपयोग की अचानक वृद्धि का कारण कौन ?

गौतम गणधर, महावीर प्रभु के निकट गये, उनको पहले ज्ञान बहुत हीन था और भगवान के समवशरण में गये, भगवान की वाणी सुनकर बारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान हुआ। पहले मति-श्रुत ज्ञान था और थोड़े समय में चार ज्ञान के स्वामी हो गये तो इतना सब ज्ञान कहाँ से आया? क्या भगवान की वाणी में से आया? क्या निमित्त ऊपर लक्ष करने से आया?

किसी जीव को सामान्य मति-श्रुत ज्ञान हो और तत्पश्चात् दो घड़ी में पुरुषार्थ करके एकाग्र होकर केवलज्ञान प्रगट करता है तो इतनी सब वृद्धि कहाँ से आई ?

यहाँ भी सुनने से पहले ज्ञान हीन होता है और शब्द और वाणी कान में पड़ने के बाद ज्ञान बढ़ता है, वह वृद्धि क्या वाणी में से आती होगी ?

अज्ञानी कहता है कि सब आत्माओं के द्रव्य-गुण तो अनादि-अनंत शुद्ध परिपूर्ण भरे हैं और पर्याय में प्रगटता की वृद्धि दिखाई देती है, वह निमित्त आता है तब बढ़ती है और निमित्त नहीं आता है तो नहीं बढ़ती है।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि ऐसा नहीं है। **वह वृद्धि किन्हीं बाह्य पदार्थों अथवा शुभराग में से नहीं आती है। अन्तर में ज्ञानशक्ति का भण्डार पड़ा है, उसमें से अपने पुरुषार्थ द्वारा वह प्रगट होती है।**

ज्ञान के ज्वार की तरंगें चैतन्य समुद्र के मध्यबिंदु में से उछलती हैं।

प्रवचन समुद्र बिंदु में, उछटी आवे जैसे।
पूर्व चौदह की लब्धि का, उदाहरण भी तैसे॥

(श्रीमद् राजचद्र)

समुद्र में ज्वार आता है उसका क्या कारण है ? ऊपर से खूब वर्षा हो रही है, अतः ज्वार आया है क्या? बहुत-सी नदियाँ आकर समुद्र में मिलती हैं, अतः समुद्र उछल रहा है क्या? नहीं; चाहे जितनी नदियाँ मिलें और चाहे जितनी वर्षा हो रही हो तो भी समुद्र के उस ज्वार को बाहर के पानी का अवलंबन नहीं है। वह ज्वार तो समुद्र के मध्यबिंदु में से आता है।

इसी न्याय से

इस चैतन्यस्वभाव के मध्यबिंदु में ज्ञान का ज्वार उछलता है। आत्मा शुद्ध चिदानंदस्वरूप है, उसमें एकाग्रता करने पर जो शक्तियाँ अंतर में विद्यमान हैं, उनमें से वह प्रगट होती है। बाह्य वाणी, भगवान अथवा गुरु संबंधी किसी शुभराग में से वह वृद्धि नहीं होती है। उसे राग तथा श्रवण का आधार नहीं है। वे ज्ञान की तरंगें अंतरशक्तिस्वभाव चैतन्यसमुद्र में से उछलकर प्रगट होती हैं।

ज्ञान की वृद्धि के समय बाह्य पदार्थों पर मात्र उपचार किया जाता है।

कोई कहता है कि शास्त्र वाँचन किया; अतः ज्ञान में वृद्धि हुई और शास्त्र में भी लेख आता है कि शिष्य विनय से पढ़ता है तो ज्ञान की वृद्धि होती है।

गुरु के समागम में पढ़े तो ज्ञान बढ़ता है तथा कुन्दकुन्दाचार्य भगवान भी कहते हैं कि गुरु की कृपा से हमको यह ज्ञानवैभव प्राप्त हुआ है। ये सब कथन व्यवहार के हैं। **अपने कारण से शुद्धस्वभाव में से ज्ञान की** वृद्धि करता है तब गुरु, **शास्त्र आदि को निमित्त कहकर उपचार करते हैं**, वह मात्र बाह्य निमित्त है। **यथार्थ में तो वह सब ज्ञान अंतर में से** प्रगट होता है।

प्रश्न : ज्ञान अंतर से प्रगट होता है तो यह मंदिर, प्रतिमाजी, समयसार आदि का अवलंबन किसप्रकार है?

उत्तर : भाई, ये सब वस्तुएं आत्मा के कारण नहीं आती हैं और आत्मा को उनका अवलंबन नहीं है। **जीव को शुभराग होता है, तब उन पदार्थों पर लक्ष जाता है। स्वयं ज्ञान की वृद्धि करता है, तब उन पदार्थों को निमित्त कहा जाता है।**

उपयोग का स्वरूप

जिसप्रकार जो आत्मा इन्द्रियों से जानने का कार्य करता है, उसे आत्मा नहीं कहते है; उसीप्रकार जो आत्मा अपने को पुण्यवान-पापवान मानता है, उसे आत्मा नहीं कहते हैं; उसीप्रकार जो उपयोग अपने ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव का अवलंबन छोड़कर, पर का अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु आदि बाह्य निमित्तों का, वाणी अथवा शुभराग का अवलंबन लेता है, उसे यहाँ उपयोग ही नहीं कहा है।

जो आत्मा इन्द्रियों का लक्ष छोड़कर अतीन्द्रियस्वभाव का लक्ष करता है तथा जो स्वयं को पुण्य-पाप रहित शुद्ध जानता है, वही आत्मा है। उसीप्रकार देव, शास्त्र, गुरु, वाणी तथा शुभराग तथा अनंत परपदार्थों का अवलंबन छोड़कर अपने ज्ञानस्वभाव में जो उपयोग एकाग्र होता है, उसे ही उपयोग कहा जाता है।

इस आठवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=उपयोग, **ग्रहण**=बाहर से लाना अर्थात् ज्ञान उपयोग की वृद्धि कहीं बाहर से नहीं होती है, ऐसा तू उपयोगरूप ज्ञेय का स्वभाव जान। अत: आत्मा कहीं बाहर से ज्ञान नहीं लाता है; ऐसा तेरे स्वज्ञेय को तू जान।

नववाँ बोल

न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्यहार्यज्ञानत्वस्य।

अर्थ :- जिसे लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता, (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो अलिंग ग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी का उपयोग सम्बन्धी भ्रम

अज्ञानी मानता है कि घर में पुत्रों ने कलह की, अतः मेरा ज्ञान च्युत हो गया, शरीर रोगी होने से ज्ञान घट गया, ध्यान में बैठा था उस समय कोई तलवार से शरीर को मारने के लिये आया; अतः मेरा उपयोग हीन हो गया; हमें तो बहुत ध्यान करना था; परन्तु भाई! क्या करें, स्त्री-पुत्र कोलाहल करते हैं, लड़के बाजा बजाते हैं, अतः हमारा उपयोग च्युत हो जाता है। परिषह होता है, तब भी हमारा उपयोग काम नहीं करता है। सात्त्विक भोजन लेते हैं तब तक उपयोग अच्छा रहता है, परन्तु हलका भोजन खाते हैं तो उपयोग खराब हो जाता है, कान में कीड़ा काटता हो — ऐसी गाली सुनने से उपयोग च्युत हो जाता है, शरीर का संहनन शक्तिशाली हो तो उपयोग अच्छा काम करता है — इसप्रकार अनेकप्रकार के उपयोग सम्बन्धी भ्रम का अज्ञानी सेवन करता है।

कोई उपयोगरूपी धन का हरण नहीं कर सकता है।

ये सब अज्ञानी का भ्रम है। बाहर के जड़ अथवा चेतन पदार्थों का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। वे आत्मा के उपयोग का घात कैसे कर सकते हैं? घात ही नहीं कर सकते हैं। **अनुकूल संयोगों से ज्ञान उपयोग बढ़े और प्रतिकूल संयोगों से घटे तथा जड़कर्म मंद हो तो उपयोग बढ़े और कर्म का उदय तीव्र हो तो उपयोग हीन हो जाय, उपयोग का ऐसा स्वरूप ही नहीं है।**

लोक में कहते हैं कि चोर किसी की अमुक वस्तु लूट ले गया अथवा हरण कर ले गया, उसीप्रकार यह उपयोगरूपी धन कोई लूट लेता होगा क्या?

नहीं; **ज्ञान उपयोगरूप धन किसी से हरण नहीं किया जा सकता है अथवा किसी से लूटा नहीं जा सकता है।**

अप्रतिहत उपयोग

ज्ञान-उपयोग का स्वरूप पर के द्वारा घात होनेवाला नहीं है; क्योंकि परपदार्थ ज्ञान में कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं, परन्तु ज्ञान का जो उपयोग अपनी पर्याय की निर्बलता से होते हुए राग के कारण हीन होता है, वह बात भी यहाँ नहीं ली है और उसे उपयोग ही नहीं कहा है; क्योंकि जो उपयोग चैतन्यस्वभाव के आश्रय से कार्य करता है और उसका ही आश्रय लेता है उस उपयोग में राग ही नहीं है तो फिर वह किसप्रकार हीन हो? **स्व के अवलंबन पूर्वक का उपयोग आत्मा में एकाकार होता है, उसे ही यहाँ उपयोग कहा है।** जिस उपयोग का पर से भी हरण नहीं होता है, उसका स्व से कैसे हरण किया जा सकता है? जो उपयोग च्युत होता है, उसे यहाँ उपयोग ही नहीं गिना है, परन्तु चैतन्य के आश्रय से एकाकार होकर वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसे अप्रतिहत उपयोग को ही उपयोग कहा है।

जो निमित्तों में तथा राग में अटकता हैं, वह उपयोग ही नहीं है।

जो जीव अपना स्वरूप नहीं समझते हैं, वे अनात्मा हैं। जो उपयोग स्वद्रव्य का आश्रय नहीं करता है और पर में भ्रमण किया करता है, उसे उपयोग ही नहीं कहते हैं। जिसप्रकार आत्मा अनादि-अनंत है, वह किसी के कारण है ही नहीं; उसीप्रकार उपयोग भी बाहरी कारण से लाया जाय, बढ़े अथवा घटे उसका ऐसा स्वरूप ही नहीं है। जो उपयोग अपने द्रव्य का आश्रय नहीं छोड़ता, और पर का आश्रय नहीं लेता, वही उपयोग है। **द्रव्य का आश्रय नहीं छोड़ता अर्थात् स्वभाव में एकाकार होता हुआ वृद्धि को ही प्राप्त होता है तथा पर का आश्रय नहीं करता अर्थात् कभी भी हरण नहीं किया जा सकता, उपयोग का ऐसा स्वरूप है।** जो निमित्तों तथा राग में अटकता है (रुकता है) वह उपयोग ही नहीं है।

उपयोग पर्याय है। 'है' उसे कौन हरण कर सकता है?

इस जगत में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों वस्तु हैं। जिसप्रकार द्रव्य ज्ञेय है, गुण ज्ञेय है; उसीप्रकार पर्याय भी ज्ञेय है। उपयोग ज्ञानगुण की पर्याय है तथा वह ज्ञेय भी है। यह ज्ञेय अधिकार है। यहाँ पर्याय-ज्ञेय कैसी होती है, उसका कथन करते हैं। सातवें बोल में कहा था कि ज्ञान पर्याय को पर का अवलंबन नहीं है।

ज्ञेयपदार्थ — जो उपयोग 'है, है, है', उसे पर का अवलंबन क्यों हो? तथा ज्ञेयपदार्थ - जो उपयोग 'है, है, है' उसे बाहर से कैसे लाया जाय? तथा ज्ञेयपदार्थ — जो 'है, है, है', उसे कोई दूसरा कैसे हरण कर सकता है?

अर्थात् जो उपयोग 'है' उसे पर का अवलंबन नहीं हो सकता है, इस प्रकार **सातवें बोल में** कहा है; उसे बाहर से लाया नहीं जाता है, **ऐसा आठवें बोल में** कहा है, उसे कोई हरण नहीं कर सकता है, ऐसा **नवमें बोल** में कहा है। जिसप्रकार द्रव्य है, गुण है, उसीप्रकार पर्याय भी "है", अतः ज्ञान-उपयोगरूप पर्याय **"है", उसे कौन हरण करके ले जाय? कोई हरण करके ले जाय ऐसा कहो, तो "है" पना नहीं रहता है,** "है" पने की श्रद्धा नहीं रहती है। अतः पर्याय "है", इसप्रकार स्वीकार करनेवाले को कोई हरण करके ले जाय, ऐसी शंका ही नहीं होती है।

पंचमकाल अथवा प्रतिकूलता ज्ञान उपयोग का हरण नहीं कर सकते हैं।

उस ज्ञेयपर्याय का स्वभाव ऐसा है कि वह निमित्त अथवा बाहर से नहीं लाई जाती है, वह स्व का आश्रय नहीं छोड़ती है और कोई हरण करके ले जाय ऐसा भी नहीं है। ज्ञान का कार्य क्या? ज्ञेयों का अवलंबन लेना ज्ञान का कार्य नहीं है, बाहर से वृद्धि को प्राप्त होना ज्ञान का कार्य नहीं है और किसी के द्वारा हीन हो जाय, ऐसा भी वह ज्ञान नहीं है। उस ज्ञेय का ऐसा स्वभाव है।

जगत में जीव कहते हैं कि भाई! इस पंचमकाल में जन्म हुआ और काल के कारण उपयोग हीन हो गया; परन्तु यह बात मिथ्या है। उपयोग हीन हो जाय, उपयोग का वैसा स्वरूप ही नहीं है। संसार में लक्ष्मी जाने पर तथा प्रतिकूलता आने पर अज्ञानी जीव मानते हैं कि हमारी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई।

परन्तु भाई ! उसमें क्या नष्ट हुआ? अनुकूल संयोग तथा लक्ष्मी थी तो मेरी प्रतिष्ठा थी और प्रतिकूलता होने से मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई — यह तो तूने सभी कल्पना नवीन उत्पन्न की है। **ज्ञानपर्याय प्रतिकूल संयोग से नष्ट हो जाये, ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है।**

तथा कोई जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर क्रमश: वह एकेंद्रिय में जाये तो उस जीव के ज्ञान-उपयोग को उपयोग ही नहीं कहा जाता। **जो उपयोग आत्मा में जाता है, उसे ही उपयोग कहते हैं।** जो पर में अथवा राग में रहता है, उसे उपयोग ही नहीं कहा है। **पर से घात नहीं हो और स्व से च्युत नहीं हो, परन्तु स्व में एकाकार रहता है, यही उपयोग का स्वभाव है।**

इस नववें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**= उपयोग, **ग्रहण**=पर से हरण होना अर्थात् उपयोग पर के द्वारा हरण नहीं किया जा सकता है। इसप्रकार आत्मा का ज्ञान हरण नहीं किया जा सकता है, ऐसा उपयोग का स्वरूप है। उपयोग भी एक ज्ञेय है। तेरे उपयोगपर्यायरूपी-ज्ञेय को हे शिष्य! तू ऐसा जान।

दसवाँ बोल

न लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादान यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य।

अर्थ :- जिसे लिंग में अर्थात् उपयोगनामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

द्रव्य, गुण तो अनादि-अनंत शुद्ध हैं; परन्तु **उपयोग में भी मलिनता नहीं है, ऐसा इस बोल में कहा है।** चन्द्र कलंकित कहलाता है; परन्तु सूर्य में कोई धब्बा नहीं है। जिसप्रकार सूर्य में किसी भी प्रकार की मलिनता नहीं है, उसी प्रकार उपयोग भी सूर्य की भांति कलंकरहित है।

स्व-स्वरूप के गीत ही भगवान की स्तुति है।

चन्द्र में जो हिरण का आकार दिखाई देता है, उस पर से पद्मनंदि आचार्य भगवान् अलंकार करके भगवान का गुणगान करते हैं कि हे भगवान! हे नाथ! चन्द्रलोक में तेरे गुणगान देवियाँ सितार से गा रही हैं, वह इतना सुन्दर और भक्तियुक्त है कि उसे सुनने के लिये हिरण भी चंद्रलोक में जाता है। देवियाँ, अप्सराएँ, देव सब तेरा गुणगान करते हैं और मध्यलोक में से हिरण वहाँ गया तो हम निर्ग्रन्थ मुनि इस स्वरूप का गाना गाते हैं, जो कि तेरा ही गान है; क्योंकि **तेरे स्वरूप में और हमारे स्वरूप में निश्चय से कोई अंतर नहीं है।**

उपयोग कैसा है ?

यहाँ शुद्धोपयोग का कथन चलता है। शुद्धोपयोग में विकार ही नहीं है। पर का लक्ष रखकर जो उपयोग बढ़ता है और पर में रुक कर जो उपयोग नष्ट होता है, उसे यहाँ उपयोग ही नहीं कहा है। दया, दान, काम, क्रोधभाव आत्मा नहीं हैं, अनात्मा हैं, अधर्मभाव हैं, वे धर्मभाव नहीं हैं। उस अशुद्धोपयोग को उपयोग ही नहीं कहा है। अज्ञानी मानता है कि मलिनता मेरे उपयोग में है-वह तो भ्रान्ति है।

जिसप्रकार द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है, उसीप्रकार ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध है, ऐसा कहा है। अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव शुद्ध है, उसमें जो पर्याय एकाकार होती है, उस पर्याय को ही उपयोग कहा है और शुद्धोपयोगस्वभावी आत्मा को ही आत्मा कहा है।

ज्ञानी को वर्तमान में राग निर्बलता के कारण है। उस राग संबंधी उपयोग को भी यहाँ उपयोग में नहीं गिना है। शुद्ध स्वभाव सन्मुख रहने से शुद्धता होती है, उस शुद्धता को ही उपयोग कहा है।

इस दसवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**= उपयोग, **ग्रहण**=मलिनता। अर्थात् जिसमें मलिनता नहीं है, ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसा शुद्ध उपयोगस्वभावी तेरा आत्मा है; ऐसा तेरे स्वज्ञेय को तू जान।

ग्यारहवाँ बोल

न लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादान यस्येति द्रव्यकर्मासं पृथक्त्वस्य।

अर्थ :- लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

उपयोग द्रव्यकर्म को ग्रहण नहीं करता है, ऐसा तू जान।

उपयोग द्रव्यकर्म का ग्रहण ही नहीं करता है और द्रव्यकर्म के आने में निमित्त भी नहीं होता है, ऐसा यहाँ कहना है।

शुद्धोपयोग को जड़कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है।

प्रश्न : शास्त्र में उल्लेख तो है कि कषाय से स्थिति बंध तथा अनुभाग बंध होता है और योग से प्रकृतिबंध तथा प्रदेशबंध होता है, उससे जड़कर्मों का आगमन होता है और यहाँ कहा है कि उपयोग द्रव्यकर्म में निमित्त भी नहीं है तो उसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तर : भाई ! योग और कषाय रूप विकारी पर्याय को आत्मा ही नहीं कहते हैं। **उपयोग में मलिनता ही नहीं है, ऐसा दसवें बोल में कहा है।** जब उपयोग में मलिनता ही नहीं है तो फिर उसके निमित्त से आते हुए द्रव्यकर्म को उपयोग किसप्रकार ग्रहण करे? द्रव्यकर्म में उपयोग निमित्त भी किस प्रकार हो? अर्थात् ग्रहण भी नहीं करता है और उसीप्रकार निमित्त भी नहीं होता है। जड़कर्मों का जो अपने स्वयं के कारण से आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होता है, उसमें मलिनता निमित्तरूप होती है; परन्तु जहाँ उपयोग में मलिनता ही नहीं है, वहाँ मलिनता तथा जड़कर्म का जो निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, वह भी उपयोग में नहीं है। **यहाँ निमित्त-नैमित्तिक संबंध उड़ा दिया है। शुद्ध उपयोग में ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही नहीं है।**

जिसप्रकार आत्मा सामान्य द्रव्य तथा गुण, जड़कर्म को ग्रहण नहीं करते, उसीप्रकार शुद्ध उपयोग भी कर्म को ग्रहण नहीं करता है। यहाँ ग्रहण करने

की तो बात ही नहीं है; परन्तु द्रव्यकर्म अपने कारण से आये, उसमें द्रव्य-गुण तो निमित्त नहीं; किन्तु शुद्ध उपयोग भी निमित्त नहीं है।

प्रश्न : शास्त्र में उल्लेख है – **जीव वीर्य की स्फुरणा ग्रहण करे जड़ धूप।** यहाँ तो कहा है कि जीव के विपरीत वीर्य की स्फुरणा से आत्मा जड़कर्म ग्रहण करता है और आप तो अस्वीकार करते हो, उसका क्या समाधान है ?

उत्तर : वहाँ जीव की विकारी पर्याय सिद्ध करनी है। जीव स्वयं विपरीत पुरुषार्थ करता है, तब जड़कर्म के साथ उसका निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। वहाँ भी जीव की विकारी पर्याय कर्म को ग्रहण करती है अथवा स्पर्श करती है अथवा खींच लाती है, ऐसा नहीं कहना है; परन्तु **अशुद्ध उपादान का तथा जड़कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताना है।** यहाँ तो शुद्ध उपयोग का कथन चलता है और **शुद्ध उपयोग में मलिनता का अभाव है; अतः वह कर्म को ग्रहण नहीं करता है अथवा उसके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है;** ऐसा कहा है।

साधक जीव को समय-समय शुद्धोपयोग की ही मुख्यता वर्तती है।

इसप्रकार शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण तथा शुद्ध उपयोग होकर सम्पूर्ण आत्मा है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धयुक्त पर्याय को अनात्मा कहा है, वह आत्मा ही नहीं है। गोम्मटसार में बहुत बार उल्लेख है कि चौथे गुणस्थान में जीव को इतनी प्रकृतियों का बंध होता है और छट्ठे गुणस्थान में इतनी प्रकृतियों का बंध होता है। ये सब उल्लेख अशुद्ध उपादान के साथ का, जड़कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध उस-उस भूमिका में किसप्रकार है, उसे बताया है; परन्तु उस भूमिका में विद्यमान शुद्ध उपयोग को जड़कर्म के साथ बिलकुल सम्बंध नहीं है। **साधकदशा में मलिनता अल्प है, परन्तु उसे गौण करके शुद्ध उपयोग को जोकि स्वभाव की ओर झुका है, मुख्य गिनकर मलिनता को अनात्मा कहा है।** यह साधक की बात है। **साधक जीव को समय-समय 'मैं ज्ञातादृष्टा शुद्धस्वभावी हूँ' उस ओर के झुकाव की ही मुख्यता वर्तती है** और दया-दान आदि शुभाशुभ भावरूप पर्यायों को जिसमें द्रव्यकर्म निमित्त होते

हैं, उन्हें गौण करता है, उनकी मुख्यता नहीं करता है। **मलिन पर्याय को एक समय भी मुख्य करे तो साधक नहीं रहता है; परन्तु मिथ्यादृष्टि हो जाता है।** साधक को सदा शुद्ध ज्ञाता की ओर झुकी पर्याय की, जो स्वभाव के साथ अभेद होती है, उसकी मुख्यता होती है। उस मुख्यता की अपेक्षा से उस उपयोग को द्रव्यकर्मों का ग्रहण नहीं होता है, ऐसा कहा है।

उपयोग लक्षण और आत्मा लक्ष्य, ऐसे लक्षण-लक्ष्य पर से पाँच बोल का सार

आत्मा द्रव्य है और उपयोग उसकी पर्याय है अथवा आत्मा लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है। लक्षण के बिना लक्ष्य नहीं हो सकता है और लक्ष्य के बिना लक्षण नहीं हो सकता। आत्मा पहिचानने योग्य पदार्थ लक्ष्य है और उपयोग उसका लक्षण है, जिससे आत्मा पहिचाना जा सकता है।

१. **सातवें बोल** में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा का ही अवलंबन करता है; अतः उसे परपदार्थों का अवलंबन नहीं है।

२. **आठवें बोल** में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा में से आता है। अतः ज्ञान परपदार्थों में से नहीं आता है।

३. **नवमें बोल** में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा का ही आश्रय करता है। अतः ज्ञान पर द्वारा हरण नहीं किया जा सकता है।

४. **दसवें बोल** में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा में ही एकाग्र होता है, परपदार्थों में एकाग्र नहीं होता है; अतः उसमें मलिनता नहीं है।

५. **ग्यारहवें बोल** में उपयोग नामक लक्षण, लक्ष्य ऐसे आत्मा को ही ग्रहण करता है; परन्तु परपदार्थ, कर्म आदि का ग्रहण नहीं करता है, अतः यह असंयुक्त है।

इस ग्यारहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=उपयोग, **ग्रहण**=पौद्गलिक कर्म का ग्रहण अर्थात् उपयोग को पौद्गलिक कर्म का ग्रहण नहीं होता, अतः आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त है।

इसप्रकार अपना ज्ञान-उपयोग भी ज्ञेय है। वह ज्ञेय पुद्गलकर्म को ग्रहण नहीं करता है; जिससे उपयोग लक्षणयुक्त आत्मा भी पुद्गलकर्म को ग्रहण

नहीं करता है – ऐसा तेरा स्वज्ञेय जिसप्रकार है, उसप्रकार तू जान; ऐसा आचार्य भगवान आदेश देते हैं।

ज्ञेय जिसप्रकार है, उसीप्रकार यथार्थ जानना-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का कारण है और उससे धर्म और शांति होती है।

छठवाँ प्रवचन

माघ कृष्णा ७,
बुधवार, दि. २८/२/१९५१

आत्मा का उपयोग अर्थात् ज्ञान का व्यापार है, उसमें पौद्गलिक कर्म का ग्रहण नहीं है। **स्वसन्मुख उपयोग को यहाँ उपयोग कहते हैं।** जो पर सन्मुख दृष्टि करता है, उसे पुण्य-पाप का परिणाम होता है। पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा नहीं हैं; परन्तु आस्रव हैं—विकार हैं, वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। आत्मा उपयोगलक्षण द्वारा कर्म का ग्रहण नहीं करता है। जो स्वसन्मुखता नहीं छोड़ता है, उसे उपयोग कहते हैं।

ज्ञान उपयोग को पर का आलंबन नहीं है।

सातवें बोल में कहा था कि ज्ञान उपयोग को ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है। उपयोग को स्वज्ञेय/आत्मपदार्थ का अवलंबन है। स्व में परज्ञेयों का अभाव है। जिसमें जिसका अभाव है, उसका अवलंबन नहीं हो सकता है। अत: आत्मा को उन ज्ञेयों का अवलंबन नहीं है। स्व का अवलंबन करता है, उसी को उपयोग कहते हैं और जो ज्ञान परपदार्थ का अवलंबन लेता है, उसे उपयोग नहीं कहते हैं।

ज्ञान उपयोग बाहर से नहीं लाया जाता है।

आठवें बोल में कहा था कि उपयोग परपदार्थ में से नहीं लाया जा सकता है। परपदार्थ की ओर झुके उपयोग को उपयोग ही नहीं कहते हैं, वह आत्मा ही नहीं है। जो आत्मतत्त्व की ओर झुकता है वही उपयोग है और वही आत्मा है। आत्मा में परपदार्थों तथा पुण्य-पाप का अभाव है; अत: उपयोग पुण्य-पाप तथा परपदार्थों में से नहीं लाया जा सकता है।

ज्ञान-उपयोग का हरण नहीं हो सकता।

नववें बोल में कहा था कि स्वसन्मुख रहकर जो कार्य करता है, वह उपयोग है। ज्ञान आत्मा का है, अत: उसे कोई अन्य वस्तु हरण करे, ऐसा नहीं बन सकता है। अन्य वस्तु का आत्मा में अभाव है, अत: ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता है। ऐसे उपयोग लक्षणयुक्त आत्मा है, ऐसा तू जान।

ज्ञान उपयोग में मलिनता नहीं है।

दसवें बोल में कहा था कि ज्ञान उपयोग में मलिनता नहीं है। जो उपयोग स्वसन्मुख झुकता है और आत्मा में एकाकार होता है, उसे उपयोग कहते हैं। जिसका उपयोग है वह तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनंत गुणों का पिंड आत्मा है। ज्ञान आत्मा का है तो भी जो ज्ञान, पुण्य-पाप का कार्य करता है, उसे ज्ञान ही नहीं कहते हैं; ऐसा हे शिष्य ! तू जान। ज्ञान उपयोग तेरी ओर झुकता है तो वह तेरी वस्तु कहलाती है; परन्तु पुण्य-पाप की ओर झुकता है तो तेरी वस्तु नहीं कहलाती है। स्व की ओर झुकना धर्म का कार्य है और पर की ओर झुकना अधर्म का कार्य है। जिसप्रकार सूर्य में मलिनता नहीं है, उसीप्रकार यहाँ शुद्धोपयोग में मलिनता नहीं है।

ज्ञान उपयोग कर्म का ग्रहण नहीं करता है।

ग्यारहवें बोल में कहा था कि उपयोग अपना है, वह पर को किसप्रकार ग्रहण कर सकता है? अथवा पर को ग्रहण करने में निमित्त भी किसप्रकार हो सकता है? हो ही नहीं सकता। पर की ओर झुककर कर्म बंधने में जो निमित्त हो, वह स्व का उपयोग ही नहीं है; परन्तु जो श्रद्धा, ज्ञान, स्थिरता का कार्य करता है, वह उपयोग है। उपयोग लक्षण-द्वारा आत्मा पहिचाना जाता है। जो स्वसन्मुखदशा छोड़कर मलिन परिणामरूप अधर्म उत्पन्न करके कर्म को ग्रहण करने में निमित्त हो, उसे आत्मा का उपयोग ही नहीं कहते हैं। **जो उपयोग आत्मा में एकाकार होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म उत्पन्न करता है; उसे आत्मा का उपयोग कहा है।**

बारहवाँ बोल

न लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य।

अर्थ :- जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा विषयों का भोक्ता नहीं है; परन्तु स्व का भोक्ता है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

आत्मा चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। उसमें शांति और आनन्द का सद्भाव है। इन्द्रियाँ, शरीर, लड्डू, रोटी, दाल, भात, शाक आदि पदार्थ जड़ हैं; उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण हैं, वे आत्मा से पर हैं। परपदार्थों का आत्मा में अभाव है और परपदार्थों में आत्मा का अभाव है। अतः आत्मा उन परपदार्थों को नहीं भोगता है। **जिस वस्तु का जिसमें अभाव हो, वह उसे किस प्रकार भोग सकता है?** आत्मा को इंद्रियाँ ही नहीं हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ तो जड़ हैं; अतः उनके द्वारा आत्मा विषयों को भोगता है, यह बात झूठ है।

तथा इन्द्रियों की ओर झुक कर विषय भोगने का भाव होता है, वह आस्रव-बंध तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व नहीं है। आत्मा विषयों को नहीं भोगता है, परन्तु हर्ष-शोक को भोगता है। उस हर्ष-शोक का शुद्ध जीवतत्त्व में अभाव है; अतः उसे आत्मा ही नहीं कहते हैं।

साधक जीव को स्वभावसन्मुख दृष्टि की मुख्यता है; अतः वह स्व का भोक्ता है।

ग्यारहवें बोल में कहा था कि विकारी परिणाम आत्मा नहीं है; परन्तु श्रद्धा-ज्ञानरूप निर्विकारी परिणाम सहित आत्मा को ही आत्मा कहते हैं। उसे द्रव्यकर्म का ग्रहण नहीं होता है। जो अस्थिरता रूप राग-द्वेष होता है, उसे गौण करके स्वभावदृष्टि को मुख्य किया है। **जो स्वभाव की ओर झुकता है, उसे कर्मबंध**

नहीं है। इसी न्याय से आत्मा ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभावी है। उसमें शांति, सुख और आनन्द है। अज्ञानी जीव इन्द्रिय सन्मुख होकर परपदार्थ को तो नहीं भोगता है; परन्तु 'परन्तु परपदार्थ को मैं भोगू', ऐसा भोक्ता का विकारी भाव आत्मा नहीं कहलाता है; क्योंकि वह आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है। परसन्मुख दृष्टि छोड़कर, स्वसन्मुख दृष्टि करके अपने अतीन्द्रिय आनंद-ज्ञान आदि को भोगता है, वही आत्मा है। **सम्यग्दृष्टि को अल्प हास्य, रति के भाव होने पर भी उस ओर की दृष्टि नहीं है। परन्तु स्वभाव सन्मुख रहते हुए अपने ज्ञानसुखादि के भाव को भोगने की ही दृष्टि मुख्यरूप से होती है। अतः वह विकारी भाव का भोक्ता नहीं होता है; ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना धर्म है।**

चैतन्य शांत अमृतरस की मिठाई छोड़कर पुण्य का भोग भिखारी की भांति जूठन खाने के समान है।

शब्द तो पुद्गल की अवस्था है, उसमें इष्ट-अनिष्टपना नहीं है। स्पर्श, रस, गंधयुक्त रूपी पदार्थों में अनुकूलता-प्रतिकूलता ही नहीं है। अज्ञानी जीव भोजन-पान के पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानकर उनको भोगने का भाव करता है; परन्तु वह उसकी भ्रांति है। परवस्तु को भोगने का भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है। लौकिक में भी जो गृहस्थ होता है, वह अपने घर में उत्तम-उत्तम वस्तुएँ खाता है; परन्तु जो जीव चूरा अथवा जूठन खाता है उसे भिखारी कहा जाता है; उसीप्रकार आत्मा का भण्डार ज्ञान, आनन्द, सुख आदि चैतन्य शक्तियों से अक्षय परिपूर्ण है, संयोग और पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर स्वभाव की दृष्टि करके, जो जीव अपनी चैतन्य निधि के भण्डार को खोलता है, उसे उसमें से स्वभाव की निर्मल पर्यायरूप ताजी मिठाइयाँ समय-समय पर मिलती हैं और वह उनको भोगता है। वह **धर्मात्मा जीव चैतन्य-लक्ष्मी का स्वामी धनवान कहलाता है; परन्तु जो जीव अपने स्वरूप का भोग छोड़कर, शरीर को भोगूँ, भोजनपान के विकारीभाव को भोगूँ, दया-दानादि परिणाम को भोगने की इच्छा करता है, परलक्ष करता है, वह जीव तीव्र आकुलता भोगता है।** वह ताजी मिठाईयाँ छोड़कर भिखारी की भाँति जूठन खाने के समान है।

वह आत्मस्वरूप की लक्ष्मी का स्वामी नहीं है; परन्तु भिखारी है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है, उसे धर्म नहीं होता है।

इस बारहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=इन्द्रियों द्वारा, **ग्रहण**=विषयों का उपभोग अर्थात् आत्मा को इंद्रियों द्वारा विषयों का उपभोग नहीं है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। यह नास्ति का कथन है। अस्ति से **आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि निर्मल पर्यायों का भोक्ता है** — ऐसा निर्णय होता है। इसप्रकार आत्मा स्वज्ञेय है, वह जैसा है वैसा उसका श्रद्धान करना सम्यक्त्व अर्थात् धर्म का कारण है।

अहो! महा समर्थ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने एक अलिंगग्रहण शब्द में से बीस बोल निकाले हैं, प्रगट किये हैं। बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थ भावलिंगी मुनि छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते थे। बाह्य में नग्न दिगंबरदशा थी और अन्तर में राग की चिकनाई के स्वामित्वरहित रूखी दशा वर्तती थी। आचार्यदेव ने चैतन्य में विश्राम करते-करते, चैतन्य उपवन में रमण करते-करते बीस बोल प्रगट किये हैं।

तेरहवाँ बोल

न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य।

अर्थ :- लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनेवाला) नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा जड़प्राणों से जीवित नहीं रहता है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान!

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु — ये दस प्राण हैं; परन्तु जीव उनसे जीवित नहीं रहता है; क्योंकि वे दसों प्राण जड़ हैं और आत्मा तो शाश्वत चैतन्यप्राणवाला है। जड़प्राण का आत्मा में अभाव है; अतः आत्मा जड़प्राण से जीवित नहीं रहता है।

अज्ञानी का प्राण संबंधी भ्रम

अज्ञानी मानता है कि जबतक श्वास और आयु टिकती है, तबतक जीव जीवित रहता है, मन-वचन-काया हो तो टिकता है, पाँचों इन्द्रियाँ ठीक रहें तो जीव टिकता है, वाणी ठीक बोली जाती हो, तबतक जीव कहलाता है, मन निर्बल हो गया हो तो जीव से कम कार्य होता है; परन्तु यह सब भ्रम है; क्योंकि मन, वचन, काया तो सर्व जड़पदार्थ हैं, आत्मा उनसे जीवित नहीं रहता है। तथा अज्ञानी मानता है कि –

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख पुत्र चार पाया ।
तीजा सुख कुलवन्ती नार, चौथा सुख अन्न भण्डार ॥

इसप्रकार अज्ञानी शरीर, पुत्र, स्त्री तथा अनाज में सुख मानता है, यह महा भ्रम है। यहाँ तो पाँच इन्द्रियाँ आदि जड़पदार्थों को निकाल दिया है, उनसे जीव जीवित नहीं रहता है तो दस प्राण से प्रत्यक्ष पृथक् बाह्य पदार्थ पुत्र, स्त्री, अनाज आदि सुख के कारण कहाँ से हो सकते हैं ? वे सुख का कारण ही नहीं हैं। अज्ञानी पैसे को भी प्राण मानते हैं, यह सब स्थूल भ्रम है। दस प्राण तो अजीवतत्त्व हैं। अजीव तो जीव का ज्ञेय है; अतः जीव ऐसे दस अजीव प्राणों से नहीं जीवित रहता है।

आत्मा चेतनाप्राण से जीवित रहता है।

इसप्रकार आत्मा माता-पिता के शुक्र और रज का अनुसरण करके होने वाला नहीं है और उनके द्वारा उत्पन्न नहीं होता है। आत्मा दस प्राणवाला नहीं है, आदि सब कथन नास्ति से किया है तो आत्मा कौन है ? कैसा है ? **आत्मा सदाकाल अपने चेतनाप्राण से जीवित रहता है और अपने परमबोध और आनन्द का अनुसरण करके रहनेवाला है।** अनादिकाल से तेरी दृष्टि दस प्राण पर है और तू मानता है कि जीव इनसे जीवित रहा है – तेरी इस दृष्टि को छोड़ दे और 'तू चैतन्यप्राणस्वरूप है', ऐसी दृष्टि कर।

इस तेरहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है –अ=नहीं, **लिंग**=इन्द्रिय, मन, **ग्रहण**=जीवत्व को धारण कर रखना अर्थात् आत्मा इन्द्रिय

और मन आदि लक्षण द्वारा जीवत्व को नहीं धारण करता है — ऐसा भाव समझकर स्वज्ञेय की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म का कारण है।

चौदहवाँ बोल

न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य।

अर्थ :- लिंग का अर्थात् मेहनाकार का (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) ग्रहण जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा, जड़ इन्द्रियों के आकार को ग्रहण नहीं करता है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

जो इस शरीर की इन्द्रियों का आकार दिखाई देता ह, जीव ने उसे ग्रहण नहीं किया है। **जो पुरुष की इन्द्रिय की, स्त्री की इंद्रिय की, नपुंसक की इन्द्रिय की आकृतियाँ दिखाई देती हैं; वे तो सब पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। उन आकृतियों का आत्मा में अभाव है और उस आकार में आत्मा का अभाव है।** जिस वस्तु का जिसमें अभाव होता है, उस अभावरूप वस्तु का ग्रहण हो, ऐसा बन ही नहीं सकता। अत: आत्मा इन्द्रिय के आकार का ग्रहण नहीं करता है।

अज्ञानी जीव आत्मा को लौकिक साधनमात्र मानता है।

अज्ञानी माता कहती है कि मैंने पुत्र को जन्म दिया, पुरुष कहता है कि मेरे कारण पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र के शरीर में पुत्र के आत्मा का भी अभाव है तो पुत्र के शरीर के आकार में माता-पिता निमित्त हों, ऐसा कैसे बने? तथा आत्मा में इन्द्रियों का अभाव है तो निमित्त होने का प्रश्न ही नहीं रहता है तो भी पुत्र का जन्म होने पर पिता विजयी हुआ और पुत्री का जन्म होने पर माता विजयी हुई, अज्ञानी भ्रम से ऐसा मानता है।

आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है।

इन्द्रियों की समय-समय की पर्याय को आत्मा ने ग्रहण ही नहीं किया है। आदि में माता-पिता थे तो वंश चलता रहा, ऐसा मानना वह भ्रम है। पर की

पर्याय कौन कर सकता है ? कोई नहीं कर सकता है। शरीर के आकार की अवस्था उसके कारण और इंद्रियों की अवस्था उनके कारण होती है। आत्मा उनको ग्रहण नहीं करता है। परज्ञेय की आकृति का आत्मा में अभाव है। अतः आत्मा कुटुम्ब का वंश रखे, ऐसा अथवा लौकिक साधनमात्र है ही नहीं।

आत्मा वीतरागी पर्याय प्रगट करने में लोकोत्तर साधन है।

आत्मा कैसा है? लौकिक साधन नहीं है, परन्तु लोकोत्तर साधन है। **आत्मा चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभावी है। वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय का (प्रजा का) उत्पादक है;** परन्तु संसार की प्रजा का उत्पादक नहीं है। इसप्रकार आत्मा वीतरागी पर्याय को जन्म देता है। ऐसी वीतरागपर्याय का साधन त्रिकाली शुद्ध आत्मा हुआ; अतः उसे लोकोत्तर साधन कहते हैं।

इस चौदहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार, **ग्रहण**=पकड़ना। आत्मा पुरुषादि की इंद्रिय के आकार को ग्रहण नहीं करता है, अतः आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है। आचार्य भगवान कहते हैं कि **तू जड़ इन्द्रियों का आश्रय छोड़ और चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिरता कर तो तेरे में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्यरूप पर्याय प्रगट होगी। अतः आत्मा लोकोत्तर साधन है।**

इसप्रकार आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है, परन्तु लोकोत्तर साधन है; ऐसा स्वज्ञेय का ज्ञान-श्रद्धान करना वह धर्म का कारण है।

पन्द्रहवाँ बोल

न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्ध-साधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य।

अर्थ :- लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पाखण्डियों

के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला — लोकव्याप्तिवाला नहीं है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा लोक व्याप्तिवाला नहीं है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

अन्य मतावलंबी आत्मा को लोकव्यापक मानता है। अमुक लोगों का मानना है कि आत्मा विभाव से पृथक् अर्थात् मुक्त होता है, तब सम्पूर्ण लोकप्रमाण व्याप्त हो जाता है। जिसप्रकार पक्षी के पंख टूट जाने पर पक्षी वहीं का वहीं पड़ा रहता है और हिलता-चलता नहीं है; उसीप्रकार इस आत्मा के पुण्य-पापरूपी पंख टूट जाने पर वह लोक में व्याप्त होकर पड़ा रहता है, वह अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव से व्यवहार से ऊँचाई पर नहीं जाता है; ऐसा अनेक पाखंडी मानते हैं। जबतक अशुद्ध होता है, तबतक मर्यादित क्षेत्र में रहता है; परन्तु शुद्ध होने के पश्चात् अमर्यादित क्षेत्रप्रमाण रहता है, ऐसा पाखण्डी लोक मानते हैं, परन्तु यह बात झूठ है।

आत्मा अपने असंख्यप्रदेशात्मक क्षेत्र में ही रहता है।

प्रत्येक आत्मा जिसप्रकार संसार में प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रहता है; उसीप्रकार मुक्त होने के पश्चात् भी भिन्न-भिन्न रहता है। वह लोक में व्याप्त नहीं होता है, अपने असंख्य प्रदेश को छोड़कर लोक में व्याप्त होना, यह उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा शुद्ध होने के पश्चात् अपने अंतिम शरीरप्रमाण से किंचित् न्यून अपने आकार में—निश्चय से अपने असंख्यप्रदेश में रहता है और उर्ध्वगमनस्वभाव के कारण व्यवहार से लोक के अग्रभाग में विराजता है।

अन्य मतवाला मानता है कि सब मिलकर एक आत्मा है और मोक्ष होने के बाद आत्मा भिन्न नहीं रहता है; परन्तु उसकी यह मान्यता झूठी है। सब मिलकर एक आत्मा हो जाये तो अपने शुद्ध स्वभाव का स्वतन्त्र भोग नहीं रह सकता है। **प्रत्येक आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि अनंत गुणों का पिण्ड है।** प्रत्येक शरीर भिन्न-भिन्न है। इसप्रकार अनंत आत्मायें हैं, सब मिलकर एक आत्मा नहीं है। तथा जीव शुद्ध होने के पश्चात् निश्चय से तो अपने

असंख्यप्रदेश में रहता है और व्यवहार से ऊर्ध्वगमनस्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में विराजता है। अत: अन्य मतवाले की मान्यता वस्तुस्वरूप से अत्यन्त विपरीत है। जीव अपने असंख्यप्रदेश में रहता है और लोक में पसरकर पर में व्याप्त नहीं होता है — इसका नाम अनेकांत है।

इस पन्द्रहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है — अ=नहीं, **लिंग**=अमेहनाकार द्वारा, **ग्रहण**=लोक में व्यापकता। अर्थात् आत्मा लोकव्याप्त नहीं है, ऐसा तू तेरे स्वज्ञेय को जान। इसप्रकार अपने आत्मा को, 'लोक व्याप्तिवाला नहीं है; परन्तु असंख्यप्रदेशात्मक आकार में निश्चित रहता है', — ऐसा श्रद्धा और ज्ञान में लेना धर्म का कारण है।

सोलहवाँ बोल

न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसक-द्रव्यभावाभावस्य।

अर्थ :- जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है,' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा द्रव्य से अथवा भाव से स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक नहीं है; ऐसा तू जान।

शरीर का आत्मा में अभाव है। चौदहवें बोल में कहा था कि पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार आत्मा में नहीं है। यहाँ कहते हैं कि स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक शरीर का आत्मा में अभाव है; क्योंकि वह जड़ है अजीवतत्त्व है और आत्मा तो जीवतत्त्व है।

वेद का विकारी भाव त्रिकाली स्वभाव में नहीं है।

अपना स्वभाव आनंदस्वरूप है, उसे भोगने से च्युत होकर परशरीर को भोगने का भाव होता है। वह भाववेदरूप अशुभभाव है, वह पापतत्त्व है। आत्मा जीवतत्त्व है, अत: उस भाववेद का त्रिकाली आत्मस्वभाव में अभाव है। इसप्रकार आत्मा द्रव्य तथा भाव वेदों से रहित है। परन्तु कोई कहता है

कि पुरुष, स्त्री आदि का शरीर द्रव्यवेद है और आत्मा में होनेवाले विकारी वेदभाव भाववेद हैं, ऐसा बिल्कुल नहीं है, यह तो मात्र भ्रम है — वह कथन तो झूठा है। यहाँ तो कहते हैं कि **संसार अवस्था में अपने स्वभाव से च्युत होता है, उस समय किसी भी भाववेद का उदय तो है और बाह्य में कोई भी द्रव्यवेद तो है, परन्तु वह आत्मा के त्रिकालीस्वभाव में नहीं है; ऐसा उस द्रव्य तथा भाववेद का स्वभावदृष्टि के द्वारा निषेध कराया है।**

आत्मा अवेदी है और उसके लक्ष से धर्म होता है।

आत्मा अवेदी है, इसप्रकार सच्चा ज्ञान कब किया कहलाता है? द्रव्यवेद जो अजीव है क्या उसके सन्मुख देखने से सम्यक्त्व होगा? अथवा भाववेद पापतत्त्व है क्या उसके सन्मुख देखने से सम्यक् प्रतीति होगी ? नहीं, **आत्मा भाववेद और द्रव्यवेद रहित अवेदी है, अपने ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध आनंद का भोग करनेवाला है, ऐसी स्वदृष्टि करे और पर की दृष्टि छोड़े तो सम्यग्दर्शन होता है और धर्म होता है।** अपना आत्मा अवेदी है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करने के पश्चात् द्रव्यवेद का, जो कि अजीव है, उसका ज्ञान करे तो व्यवहार से उसका अजीव संबंधी ज्ञान सत्य है। अपना आत्मा अवेदी है, ऐसा श्रद्धा-ज्ञान करने के पश्चात् भाववेद अपना अशुभ-परिणाम है, वह पापतत्त्व है—ऐसा ज्ञान करे तो व्यवहार से उसका पापतत्त्व सम्बन्धी ज्ञान सत्य है; परन्तु **जीवतत्त्व के यथार्थज्ञान बिना अन्य तत्त्वों का ज्ञान सच्चा नहीं होता है।**

अज्ञानी जीव पर को अपना आधार मानता है।

अज्ञानी जीव को अपने अवेदी आत्मा का भान नहीं है; अतः संयोगों तथा विकारीभाव पर उसकी दृष्टि जाती है। स्त्रियाँ कहती हैं कि हम क्या करें ? हम तो अबला हैं; अतः किसी के आधार बिना जीवित नहीं रह सकती हैं। पुरुष कहते हैं कि हम बहुतों का पालनपोषण करते हैं, स्त्री, कुटुम्ब, बाल-बच्चों को हमारा आधार है। नपुंसक कहता है कि हम तो जन्म से ही नपुंसक हैं, अतः हम क्या कर सकते हैं? इसप्रकार वेद की संयोगीदृष्टि के कारण पराधीनता की कल्पना करते हैं; उनको कभी भी धर्म नहीं होता है।

नारकी को द्रव्य और भाववेद दोनों नपुंसक होने पर भी वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है।

ज्ञानी कहते हैं कि इस संयोगदृष्टि को छोड़। स्त्री का, पुरुष का अथवा नपुंसक का शरीर ही तेरा नहीं है। जब शरीर ही तेरा नहीं है तो शरीर के निर्वाह के लिये तुझे परसन्मुख देखने की क्या आवश्यकता है? तू तो तेरे ज्ञान, दर्शन आदि स्वशक्ति के आधार से जीवित है और जो भाववेद का परिणाम है वह तो पापतत्त्व है, वह तेरा जीवतत्त्व नहीं है; अत: उसकी दृष्टि छोड़। द्रव्यवेद और भाववेद सम्यग्दर्शन अथवा धर्म को नहीं रोकता है। नारकी जीव द्रव्य और भाव से नपुंसकवेदी है तो भी आत्मा त्रिकाल अवेदी है; ऐसा भान करने से पुरुषार्थी नारकी जीव भी बहुत प्रतिकूल संयोग में होते हुए भी सम्यग्दर्शन रूप धर्म को प्राप्त कर सकता है। तू यहाँ मनुष्यत्व में धर्म प्राप्त न कर सके, ऐसा नहीं बनता है। अत: वेदों की दृष्टि छोड़ और अवेदी आत्मा की स्वसन्मुख दृष्टि कर—इसप्रकार कहने का आशय है।

इस सोलहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेद, **ग्रहण**=ग्रहण करना। जिसको स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेद द्रव्य और भावरूप नहीं है अर्थात् आत्मा अवेदी है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **आत्मा तो अपने ज्ञान, दर्शन, सुख आदि का वेदक है; परन्तु शरीर तथा विकारी भाव का वेदक नहीं है** —इसप्रकार तेरा आत्मा तेरा स्वज्ञेय है, उसको तू जान।

इस प्रमाण से स्वज्ञेय ऐसे आत्मा को श्रद्धा और ज्ञान में लेना, वही सम्यग्दर्शन का कारण है।

सातवाँ प्रवचन

माघ कृष्णा ८,
गुरुवार, दि. २९/२/१९५१

यह आत्मा जिसप्रकार है, उसीप्रकार उसके असली स्वरूप को जाने और माने तो धर्म होता है। इसका अर्थ ऐसा होता है — उसने अपना यथार्थस्वरूप

अनंतकाल से एक सेकन्ड मात्र भी नहीं जाना है। आत्मा जैसा है वैसा नहीं मानकर उसकी विपरीत मान्यता की है। अत: हे जीव! आत्मा को अलिंगग्रहण जान। किसी भी इंद्रिय के द्वारा पर को जाने, ऐसा आत्मा नहीं है। इंद्रियों द्वारा मुझे ज्ञान होता है, ऐसी अनादि से मान्यता की है। ऐसी मान्यतारूप भ्रम वर्तमान अवस्था में है, इन्द्रियां भी हैं, ऐसा स्वीकार करने पर भी उक्त दशायें आत्मा नहीं हैं, ऐसा कहा है। तथा वह इन्द्रियों से ज्ञात हो ऐसा नहीं है, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी है, ऐसा कहा है। इन्द्रियों से ज्ञान होता है, ऐसा भ्रम है; परन्तु आत्मा यथार्थतया इन्द्रियों से स्व-पर को नहीं जानता। **सब बोलों में व्यवहार का ज्ञान कराके उसका निषेध किया गया है।**

आत्मा, द्रव्य तथा भाववेद से रहित है।

सोलहवाँ बोल फिर से कहा जाता है। आत्मा को लिंगों का अर्थात् स्त्री पुरुष वेदों का ग्रहण नहीं है, स्त्री-पुरुषों का आकार आत्मा में नहीं है। व्यवहार से शरीर स्त्री-पुरुष के आकाररूप संयोग होते हैं; किन्तु वे आत्मा में नहीं हैं। स्त्री अथवा पुरुषवेद का भाव औपाधिकभाव है; परन्तु वह आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है, वह एकसमय की अवस्था है; अत: ज्ञाता-दृष्टा शुद्धस्वभाव को छोड़कर आत्मा को इस जितना मानना वह पर्यायबुद्धि है; भ्रम है, अज्ञान है। **पुरुषादि के आकार को आत्मा मानना, वह जड़ को जीव मानने जैसा है** और **भाववेद को आत्मा मानना वह पापतत्त्व को जीवतत्त्व मानने जैसा है।** अजीव को जीव मानना तथा पाप को जीव मानना, अधर्म है; परन्तु **शरीर तथा भाववेद से रहित आत्मा शुद्धचिदानन्दस्वरूप है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करना, धर्म है, जीवनकला है।** सुखी जीवन कैसे जीना, उसकी यह कुंजी है।

सत्रहवाँ बोल

न लिंगानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिंगाभावस्य।

अर्थ : लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है'; इस अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा बाह्य धर्मचिह्नों को ग्रहण नहीं करता है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

शरीर की नग्न दिगम्बरदशा, वह धर्म का चिह्न नहीं है।

१. **आत्मा शुद्धचिदानन्दस्वरूप है, ऐसा भान होने के पश्चात् स्वभाव में विशेष स्थिरता होना अंतरमुनिदशा है** और जब अंतर में निर्ग्रंथदशा प्रगट होती है तब बाह्य में वस्त्र आदि नहीं होते हैं अर्थात् शरीर की नग्न दिगम्बरदशा होती है तथा मयूरपीछी और कमंडल होते हैं। **बाह्य में नग्नदशा ही नहीं होती है, इसप्रकार कोई मानता है तो यह स्थूल भूल है।**

२. परन्तु बाह्य निमित्त-मयूरपीछी आदि तथा शरीर की नग्नदशा आदि का आत्मा में अभाव है। आत्मा उन्हें ग्रहण नहीं करता है; क्योंकि वे जड़ पदार्थ हैं, वे उनके कारण होते हैं। आत्मा उनके उठाने-रखने की क्रिया नहीं कर सकता है।

३. तथा वह नग्नदशा, मयूरपिच्छ, कमंडलु आदि हैं; अतः मुनि का मुनिपना रहता है, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि अंतर की भावलिंगीदशा, वह मुनिपना है।

इसप्रकार व्यवहार से बाह्य संयोग का ज्ञान करा कर निश्चय में उस व्यवहार का अभाव वर्तता है; इसप्रकार कहते हैं। 'मैं शरीर की अवस्था कर सकता हूँ, दिगम्बर हूँ, मुनिपने की अवस्था जितना ही हूँ,' इसप्रकार मुनि कभी भी नहीं मानते हैं तो भी उन्हें अंतर में मुनिदशा वर्तती है, तब शरीर की अवस्था शरीर के कारण नग्न होती है।

शरीर की नग्नदशा आत्मा से होती है, इसप्रकार माननेवाला जीव मुनि नहीं है; परन्तु मिथ्यादृष्टि है।

जो जीव ऐसा मानता है कि शरीर की नग्नदशा को मैंने किया है, मैंने इच्छा से वस्त्र का त्याग किया— इसप्रकार शरीर और वस्त्र की क्रिया का जो स्वामी बनता है, वह स्थूल मिथ्यादृष्टि है। अंतरंग में जब तीन प्रकार की कषाय रहित वीतरागी रमणता हो, तब देह की नग्नदशा उसके कारण होती है; जिसको ऐसा भान नहीं है और परपदार्थों की क्रिया होती है, उसका

कर्त्ता-हर्त्ता होता है, वह मूढ़ है, अज्ञानी है, उसे आत्मा के धर्म की खबर नहीं है। परवस्तु के ग्रहण-त्याग का भाव ही अधर्मभाव है।

कोई कहता है कि **बाह्यलिंग की धर्म के लिये आवश्यकता नहीं है। चाहे जैसा बाह्यलिंग हो तो भी धर्म हो सकता है, यह मान्यता भी बहुत भ्रमपूर्ण है।** चाहे जो लिंग हो और केवलज्ञान हो तथा मुनि होकर वस्त्र-पात्र रखे और उस दशा में ही केवलज्ञान प्राप्त करे, इसप्रकार माननेवाला बहुत स्थूल भूल में है। वह तो बाह्य से भी मुनि नहीं है। पहले व्यवहार सिद्ध किया है। उतना व्यवहार स्वीकार करना पड़ेगा कि जब मुनिदशा होती है, तब नग्नदशा ही होती है और बाह्य उपकरण के रूप में मयूरपिच्छ, कमंडलु के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होता है। इतना स्वीकार करने के पश्चात् यहाँ तो इसप्रकार कहते हैं कि इनसे आत्मा नहीं पहिचाना जाता है।

इस सत्रहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है — अ=नहीं, **लिंग**=बाह्य धर्म चिह्न, **ग्रहण**=ग्रहण। अर्थात् आत्मा बाह्य धर्मचिह्नों को ग्रहण नहीं करता है; परन्तु शुद्ध चिदानन्द स्वभाव को ग्रहण करता है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। ऐसा तेरे स्वज्ञेय को तू जान और श्रद्धा कर, ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं और वह सम्यग्दर्शन का कारण है।

अठारहवाँ बोल

न लिंगं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य।

अर्थ :- लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्धद्रव्य है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

तेरा अभेद आत्मा, गुणभेद का स्पर्श नहीं करता है; ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

आत्मा वस्तु है। वह अनंतगुणों का पिंड है। वह मात्र ज्ञानगुणवाला नहीं है। अभेद आत्मा गुण के भेद को स्पर्श करे ऐसा नहीं है।

१. आत्मा मन, वाणी, देह का स्पर्श नहीं करता है; क्योंकि वे तो जड़ हैं, उनका आत्मा में अभाव है। जो वस्तु पृथक् हो, उसे किसप्रकार स्पर्श करे? **पृथक् को स्पर्श करे तो आत्मा और शरीर एक हो जाय,** परन्तु ऐसा कभी नहीं बनता है।

२. आत्मा जड़कर्म—ज्ञानावरण आदि को स्पर्श नहीं करता है; क्योंकि वे सब रूपी हैं, उनका अरूपी आत्मा में अभाव है। अज्ञानी का आत्मा भी कभी भी कर्म को स्पर्श ही नहीं करता है; क्योंकि आत्मा और कर्म में अत्यन्त अभाव वर्तता है।

३. अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से च्युत होकर अपनी एक समय की पर्याय में पुण्य-पाप के विकारी भाव होते हैं, त्रिकाली स्वभाव ने उनको कभी स्पर्श ही नहीं किया है। **सम्पूर्ण वस्तु यदि विकार को स्पर्श करे तो त्रिकालीस्वभाव विकारमय हो जाये और ऐसा होने से विकाररहित होने का अवसर कभी भी प्राप्त नहीं हो।**

४. आत्मा में ज्ञानादि अनंत गुण हैं। ज्ञानगुण, दर्शनगुण आदि गुणभेद आत्मा में होने पर भी अनंत गुणों का एक पिंडरूप आत्मा गुणभेद का स्पर्श नहीं करता है। 'मैं ज्ञान का धारक हूँ और ज्ञान मेरा गुण है' ऐसे गुण-गुणी के भेद को अभेद आत्मा स्वीकार नहीं करता है। **अभेद आत्मा भेद का स्पर्श करे तो वह भेदरूप हो जाये, भेदरूप होने पर अभेद होने का प्रसंग कभी भी प्राप्त नहीं हो और अभेद माने बिना कभी भी धर्म नहीं होता है।**

देखो! यह सम्यग्यदर्शन का विषय कैसा होता है, उसका कथन चलता है। सम्यग्दर्शन का विषय आत्मा अभेद एकरूप कैसा है उसे यथार्थ नहीं जाने तो इस ज्ञान बिना बालतप और बालव्रत कार्यकारी नहीं होते हैं। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर देवाधिदेव ने अपने केवलज्ञान में वस्तु का स्वरूप जैसा देखा है, वैसा ही उनकी वाणी द्वारा प्रगट हुआ और उसी के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने वस्तुस्वरूप को जानकर, अनुभव कर इस महान गाथा की रचना की है। उसे मानने से सम्यग्दर्शन होता है। लोग बाह्य में 'यह करूँ, वह करूँ',

इसप्रकार बाह्य पदार्थों में और क्रिया में धर्म मानते हैं। भाई! जिसको वस्तुस्वभाव का ज्ञान नहीं है, उसे धर्म कभी भी नहीं होता है।

सम्यग्दर्शन का विषय शुद्ध, एकाकार, अभेद आत्मा है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है? वह जैसा है वैसा जाने तो धर्म हो। कोई जीव शक्कर को अफीम माने तो क्या उसका शक्कर का ज्ञान सच्चा कहलाता है? अथवा शक्कर और अफीम-दोनों को एक ही पदार्थ माने तो क्या उसका शक्कर का ज्ञान सच्चा कहलाता है ? और शक्कर के ऊपर जो मैल है, उसको शक्कर का स्वरूप माने तो क्या सच्चा ज्ञान कहलाता है?

उत्तर : नहीं, वह सच्चा ज्ञान नहीं कहलाता है। शक्कर शक्कर है, अफीम नहीं है; दोनों भिन्न हैं। शक्कर के ऊपर का मैल भी शक्कर का स्वरूप नहीं है; उसीप्रकार शरीर को आत्मा माने तो आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता है। आत्मा और शरीर दोनों को एक माने तो भी आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता। आत्मा की पर्याय में क्षणिक विकार है, उसे अपना त्रिकाली स्वरूप माने तो भी आत्मा का ज्ञान सच्चा नहीं होता है। **शरीर-मन-वाणी रहित, विकल्परहित और गुणभेदरहित, एकाकार, अभेद आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।**

यहाँ बीसों बोल में पहले व्यवहार सिद्ध करते जाते हैं और उसके पश्चात् व्यवहार का निषेध करके निश्चय का ज्ञान कराते जाते हैं। मात्र व्यवहार को स्वीकार करे और उसमें रुक जाये तो भी धर्म नहीं होता है।

गुणभेद होने पर भी आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है।

यहाँ १८वें बोल में व्यवहार सिद्ध करके निषेध कराया है। जो वस्तु हो उसका निषेध किया जाता है; परन्तु जो न हो उसका क्या निषेध हो?

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, स्वच्छत्व, विभुत्व आदि आत्मा में अनंत गुण हैं। कोई मानता हो कि ऐसा गुणभेद ही नहीं है तो उसको व्यवहार श्रद्धा भी नहीं है। एक गुण अन्य गुणरूप नहीं है — इसप्रकार गुणभेद है, तो भी उसमें जीव रुकता है तो धर्म नहीं होता है। गुणभेद में आत्मा एकाकार हो तो आत्मा का एकत्व भिन्न नहीं रहता है। आत्मा त्रिकाली गुणों का पिंड है, वह सामान्य है

और दर्शन, ज्ञान आदि गुण वे विशेष हैं। **सामान्य विशेष को स्पर्श नहीं करता है, सामान्य सामान्य में है, विशेष विशेष में है। सामान्य में विशेष नहीं है और विशेष में सामान्य नहीं है। सामान्य ऐसे आत्मा विशेष ऐसे ज्ञानगुण को स्पर्श करे तो सामान्य और विशेष एक ही जायें, दोनों पृथक् नहीं रहें।** अनंतगुणों का समूहरूप एकाकार आत्मा मात्र ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करता है। यहाँ शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा कराई है। शरीररहित, कर्मरहित, विकाररहित, गुणभेदरहित ऐसे अभेद शुद्धद्रव्य की दृष्टि करानी है।

शुद्धद्रव्य एकरूप है, यदि वह गुणभेद का स्पर्श करे तो द्रव्य शुद्ध नहीं रहता है। गुणभेद है उसका निषेध कराते हैं। गुणभेद बिलकुल नहीं होता तो निषेध किसका करते? सामान्य विशेष में व्याप्त हो जाये तो सामान्य पदार्थ एकरूप नहीं रहता। अत: यहाँ कहते हैं कि सामान्य स्वभाव ने ज्ञानगुण को स्पर्श ही नहीं किया है। यह ज्ञानगुण है और आत्मा ज्ञानगुण का धारक है, ऐसे भेद के विकल्प से धर्म नहीं होता है, परन्तु आत्मा अखंड ज्ञाता एकाकार है, उसकी श्रद्धा करने से धर्म होता है।

इस अठारहवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=गुण, **ग्रहण**=पदार्थज्ञान, वह जिसको नहीं है ऐसा आत्मा है। अर्थात् आत्मा गुणविशेष से अस्पर्शित ऐसा शुद्धद्रव्य है। इस बोल में ज्ञानगुण और ज्ञान का धारक आत्मा गुणी — ऐसे गुण-गुणी भेद का निषेध कराकर एकाकार आत्मा की श्रद्धा कराते हैं।

गुणभेदरहित आत्मा तेरा स्वज्ञेय है, ऐसा तू जान, इसप्रकार आचार्य भगवान कहते हैं। इसप्रकार स्वज्ञेय का श्रद्धा-ज्ञान करना धर्म है।

उन्नीसवाँ बोल

न लिंगं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढ-शुद्धद्रव्यत्वस्य।

अर्थ :- लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्धद्रव्य है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

तेरा नित्य आत्मा अनित्य निर्मल पर्याय को भी स्पर्श नहीं करता है, ऐसे स्वज्ञेय को तू जान।

निर्मल पर्याय से नहीं स्पर्शित आत्मा शुद्धद्रव्य है। १८वें बोल में 'अर्थावबोध' शब्द दिया था और कहा था कि गुणभेद होने पर भी अभेद आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है, इसप्रकार गुणभेद का निषेध कराकर अभेद आत्मा की श्रद्धा कराई थी। यहाँ ऐसा कहते हैं कि साधकदशा में सम्यग्ज्ञान की निर्मलपर्याय को अथवा केवलज्ञान के समय केवलज्ञानी की पूर्ण निर्मल-पर्याय का आत्मा चुम्बन नहीं करता है, स्पर्श नहीं करता है। **द्रव्य, पर्याय जितना ही नहीं है; इसप्रकार कहकर पर्याय-अंश का लक्ष छुड़ाना है और अंशी द्रव्य की श्रद्धा करानी है।**

आत्मा सामान्य एकरूप है। वह समय-समय की पर्यायमय हो जाये तो द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्न नहीं रहते हैं। जिसप्रकार पर्याय क्षणिक है; उसी प्रकार द्रव्य भी क्षणिक हो जाये अर्थात् द्रव्य अनादि-अनंत नहीं रहे।

प्रवाहरूप से तूने अनादि से विकारी परिणाम ही किये हैं, उनको तो आत्मा ने कभी स्पर्श किया नहीं, उनके साथ एकरूप हुआ ही नहीं। **अज्ञानी भले ही मानता हो कि मैं सम्पूर्ण विकारी हो गया; परन्तु उसका आत्मा भी विपरीत मान्यता के समय द्रव्यदृष्टि से तो विकाररहित ही है; क्योंकि यदि शुद्धद्रव्य विकारमय हो जाये तो विकाररहित होने का कभी प्रसंग ही नहीं बने;** यहाँ तो यह बात ही नहीं है।

यहाँ तो इससे भी आगे की बात कहनी है कि आत्मा ज्ञाता-दृष्टा-शुद्ध स्वभावी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से जो निर्मलपर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय को भी आत्मा स्पर्श नहीं करता है, आलिंगन नहीं करता है; परन्तु आत्मा नित्य शुद्धद्रव्य है। ऐसा तेरा ज्ञेयस्वभाव है। जैसा ज्ञेयस्वभाव है वैसा जाने तो सम्यक्दर्शन-ज्ञान प्रगट हो। ऐसी अपूर्व बात अनंतकाल में सुनने को मिली है। **यथार्थ समझ करके सम्यक् प्रतीति करे तो धर्म हो,** परन्तु जिसको यह बात सुनने को भी नहीं मिली है, उसे तो धर्म कहाँ से होगा? अर्थात् नहीं ही होगा।

प्रश्न : द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता है, इसप्रकार कहते हो तो क्या द्रव्य, पर्याय बिना का होगा ?

उत्तर : द्रव्यसामान्य, निश्चय से तो पर्याय बिना का है। द्रव्यसामान्य और पर्यायविशेष - दोनों मिलकर सम्पूर्ण द्रव्य होता है, ऐसा द्रव्य का अर्थ यहाँ नहीं लेना। **यहाँ शुद्धद्रव्य का अर्थ सामान्य, सदृश, एकरूप, त्रिकाली स्वभाव लेना।** द्रव्य सामान्य है, पर्याय विशेष है। सामान्य में विशेष का अभाव है। अभाव कहते ही 'त्रिकाली स्वभाव एकसमय की पर्याय को स्पर्श नहीं करता है' ऐसा निर्णय होता है।

शुद्धस्वभावी द्रव्य वह नित्य है और निर्मल पर्याय वह एकसमय की होने से अनित्य है। **नित्य ऐसा शुद्धद्रव्य अनित्य ऐसे सम्यग्ज्ञान की अथवा केवलज्ञान की पर्याय को निश्चय से स्पर्श करे तो द्रव्य नित्य नहीं रहता है अर्थात् द्रव्य के क्षणिक होने का प्रसंग आता है;** परन्तु ऐसा कभी नहीं बनता है।

अनित्यपर्याय का लक्ष छोड़ और नित्यद्रव्य का लक्ष कर।

जिसप्रकार १८वें बोल में कहा था कि अभेद आत्मा में भेद का अभाव है; अत: अभेद आत्मा गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है, उसीप्रकार यहाँ नित्य ज्ञानानंद शुद्धस्वभावी आत्मा त्रिकाली है; वह एकसमय की अनित्य निर्मलपर्याय का स्पर्श नहीं करता है — इसप्रकार कहकर **जो निर्मल पर्याय अनित्य है, उस पर से लक्ष छुड़ाकर जो नित्यद्रव्य शुद्ध, एकरूप, अभेद पड़ा है, उस पर दृष्टि कराने का प्रयोजन है।** तेरा आत्मा निर्मल पर्याय जितना नहीं है, तू तो त्रिकाली शुद्ध है। उस पर लक्ष करेगा तो सम्यग्दर्शन होगा और नित्य के लक्ष से ही निर्मलता बढ़कर परिपूर्ण निर्मलता होगी, इसप्रकार कहने का आशय (भाव) है।

इस उन्नीसवें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ इसप्रकार है —अ=नहीं, **लिंग**=पर्याय, **ग्रहण**=ज्ञान की निर्मल पर्याय—वह जिसकी नहीं है अर्थात् शुद्धद्रव्य, ज्ञान की एक समय की निर्मलपर्याय जितना ही नहीं है; परन्तु नित्य, सदृश, सामान्य, एकरूप है; इसप्रकार तू स्वज्ञेय को जान। इसप्रकार स्वज्ञेय की श्रद्धा, ज्ञान करना धर्म का कारण है।

बीसवाँ बोल

न लिंगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य ॥ १७२ ॥

अर्थ :- लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है ॥ १७२ ॥

शुद्धपर्याय की अनुभूति ही आत्मा है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

सम्यग्ज्ञान की पर्याय त्रिकाली ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करती है, इसप्रकार यहाँ कथन है। लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य अर्थात् त्रिकाली ज्ञानगुण, प्रत्यभिज्ञान अर्थात् यह वही है — ऐसा जो भूत-वर्तमान की संधिवाला ज्ञान, वह प्रत्यभिज्ञान है। **पूर्व की स्मृति और प्रत्यक्ष के जोडरूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। ऐसे प्रत्यभिज्ञान का कारण सामान्य त्रिकाली गुण है। आत्मा, वह सामान्य त्रिकाली गुण को नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्ध पर्याय है** — ऐसा कहना है।

सम्यग्ज्ञान की पर्याय, शरीर के कारण नहीं है, शुभभाव के कारण नहीं है; उसीप्रकार त्रिकाली ज्ञानगुण सामान्य जो कि शक्तिरूप है, उसके कारण भी नहीं है। यदि वह पर्याय द्रव्य के कारण है, ऐसा कहो तो पर्याय का 'है पना' (अस्तित्व') नहीं रहता है, अहेतुक सत्पना (अस्तित्व) नहीं रहता है।

१८वें बोल में कहा था कि आत्मद्रव्य, सामान्य, अभेद है, वह गुणभेद-विशेष को स्पर्श नहीं करता है। **१९वें बोल** में कहा था कि आत्मद्रव्य सामान्य पर्याय के भेद-विशेष को स्पर्श नहीं करता है। **२०वें बोल** में इससे भी सूक्ष्म बात है। साधकदशा में जो सम्यग्ज्ञान की पर्याय है अथवा मोक्ष में केवलज्ञान की जो पर्याय है, वह विशेष है। वह विशेष शुभभाव अथवा शरीर के आधार से तो नहीं है; परन्तु वह, त्रिकाली ज्ञानगुण सामान्य एकरूप है, उसके कारण भी नहीं है। **शुद्ध पर्यायरूप जो विशेष है, वह सामान्य के आधार से प्रगट**

होती है, ऐसा माना जाय तो विशेष, जो कि निरपेक्ष तत्त्व है, उसकी स्वाधीनता नहीं रहती है, पराधीन हो जाता है और अनित्यसत् शुद्धपर्याय का, जो 'है' का अभाव हो जाता है; अतः शुद्धपर्याय 'है', वह ध्रुवसामान्य का स्पर्श नहीं करती है—चुम्बन नहीं करती है। स्वतन्त्र अनुभव की पर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती है; क्योंकि पर्याय द्रव्य को निश्चय से स्पर्श करें तो दोनों एक हो जायें।

प्रश्न : शुद्धपर्याय 'है', इसप्रकार कहकर पर्याय का आश्रय तो नहीं कराना है ?

उत्तर : नहीं, पर्याय का आश्रय नहीं कराना है। निर्विकारी पर्याय जो विशेष है, वह सामान्य के आधार से नहीं है; इसप्रकार कहना है। निरपेक्षता सिद्ध करनी है।

निर्विकारी ज्ञानपर्याय, सामान्य ज्ञानगुण को स्पर्श करती हो तो सामान्य और विशेष एक हो जायें, भिन्न नहीं रहें। निर्विकारी पर्याय में ध्रुवसामान्य का अभाव है। अतः आत्मा, द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्ध पर्याय है।

शुद्ध पर्याय अहेतुक है।

एक ओर त्रिकाली सामान्यज्ञान गुण है, दूसरी ओर ज्ञान की निर्मल पर्याय है, दोनों एक ही समय में हैं, समयभेद नहीं है। एकसमय की पर्याय में त्रिकाली गुण का अभाव है। इसप्रकार शुद्धपर्याय अहेतुक है, अकारणीय है, उसे कोई कारण नहीं है।

१. वीतरागी निमित्त मिलने के कारण शुद्धपर्याय प्रगट हुई, इसप्रकार कोई कहता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रहती है, पराधीन हो जाती है।

२. शुभराग व्यवहार है; अतः उसके कारण शुद्धपर्याय प्रगट हुई, ऐसा कोई कहे तो भी वह स्वतन्त्र नहीं रहती है, पराधीन हो जाती है।

३. 'त्रिकाली ज्ञानगुण सामान्य है; अतः सम्यग्ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई', यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर शुद्धपर्याय 'है', इसप्रकार नहीं रहता है। **शुद्धपर्याय स्वतंत्र, सत्, अहेतुक है, ऐसा यहाँ कहना है।**

४. वेदन-जानना तो पर्याय में ही है। अप्रगट शक्तिरूप त्रिकाली सामान्य को कोई वेदन, क्रिया अथवा जानना नहीं है — ऐसा पर्याय सत् में आत्मा जानता हुआ, तब उस शुद्ध पर्याय को आत्मा कहा।

जो शुद्धपर्याय का अनुभव करता है, वह आत्मा है; जो राग का अनुभव करता है वह आत्मा नहीं है। निमित्त, विकल्प और भेद पर से दृष्टि छूटकर, चिदानंदस्वभाव की दृष्टि हुई, वह संवर-निर्जरा की अनुभूतिरूप शुद्धपर्याय हुई, वही आत्मा है — ऐसा स्वज्ञेय को जान।

इसप्रकार स्याद्वादसहित स्वज्ञेय को यथार्थ जानना वह धर्म का कारण है।

आठवाँ प्रवचन

माघ कृष्णा ९,
शुक्रवार, दि. ३०/२/१९५१

(आज १८-१९-२० वें बोल पर पुनः खुलासा कर रहे हैं।)

बोल १८ : आत्मा गुणभेद से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धद्रव्य है — ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

यह आत्मा कैसा है कि जिसके जानने से धर्म हो ? धर्म का करनेवाला आत्मा है। धर्म के करने में शांति है अथवा बाहर से आती है ? कर्त्ता कहो कि धर्मरूप परिणत कहो — एक ही बात है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय वह धर्म है। आत्मा को जानने से अविकारी परिणाम होता है अर्थात् धर्म होता है। हे शिष्य ! तू आत्मा को अलिंगग्रहण जान। वह किसी चिह्न द्वारा पहिचानने योग्य नहीं है। जो बीस प्रकार से कहा है, ऐसा आत्मा को जाने तो उसके लक्ष से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होगी।

पाँच लाख रुपया किसप्रकार कमाया जाये? उसकी रीति (विधि) किसी को बतलाई जाये तो वह कितनी रुचि से सुनता है। वह रुपया तो जड़ है, उसे इष्ट मानकर ममता करता है। जिसप्रकार वह ममता पैसे में नहीं है; उसीप्रकार आत्मा में भी नहीं है। अज्ञानी जीव नवीन-नवीन ममता उत्पन्न

करता है। आत्मवस्तु में कृत्रिमता नहीं है, कृत्रिमता नवीन-नवीन उत्पन्न करता है। उसे दूरकर स्वभाव सन्मुख होने से सम्यक्त्व की नवीन पर्याय प्रगट होती है। वह कैसे चैतन्य स्वरूप आत्मा पर दृष्टि करने से प्रगट होती है ? आत्मा कौन है ? ये बातें इस बोल में आयी हैं।

हे भव्य ! तू आत्मा को अलिंगग्रहण जान, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। इस १८वें बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ : **अ**=नहीं, **लिंग**=गुण, **ग्रहण**=अर्थावबोध अर्थात् ज्ञान। लिंग और ग्रहण के अर्थ भिन्न किये हैं। देखो! लिंग का अर्थ तो गुण कहा है; परन्तु गुण तो सामान्य है, गुण तो अनेक हैं, उनमें से कौन-सा गुण? तो कहते हैं कि ज्ञान गुण। देखो! ग्रहण शब्द में से ज्ञानगुण निकाला है अर्थात् आत्मा को ज्ञान गुण नहीं है अर्थात् जिसमें ज्ञानगुण और आत्मा गुणी, ऐसा भेद नहीं है, वह आत्मा शुद्धद्रव्य है।

१. शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो आत्मा में नहीं है; क्योंकि वह तो अजीव पदार्थ है, अतः उसके लक्ष से धर्म नहीं हो सकता है।

२. दया, दान, काम, क्रोध आदि के भाव औपाधिकभाव हैं, कृत्रिम हैं, वे वस्तुस्वरूप में नहीं हैं। अतः उनके लक्ष से धर्म नहीं होता है।

३. आत्मा अनंतगुणरूप एक अभेद वस्तु है। उस अभेद वस्तु में 'यह ज्ञानगुण है' ऐसा भेद उत्पन्न करने पर वस्तु अभेद नहीं रहती है। ऐसे भेद के लक्ष से भी धर्म नहीं होता है। अतः यहाँ कहते हैं कि अभेद आत्मा एक ज्ञानगुण का स्पर्श नहीं करता है — ऐसा तू आत्मा को जान।

यह ज्ञेय अधिकार है। ज्ञेय आत्मपदार्थ कैसा है कि जिसकी श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन हो? सम्यग्दर्शन अर्थात् प्रथम धर्म - अनादि काल से नहीं प्रगट हुआ अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपीधर्म, कैसे आत्मा को श्रद्धा में लेने से होता है ?

आत्मस्वरूप से विपरीत मान्यतावाला अजैन है/मिथ्यादृष्टि है।

१. आत्मा में परवस्तु का अभाव है; अतः जो जीव आत्मा को शरीरवाला या कर्मवाला मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

२. तथा आत्मा में शुभाशुभ परिणाम होता है, वह पुण्य-पाप तत्त्व है, आस्रवतत्त्व है, उसे जीवतत्त्व मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

३. आत्मा एक अभेदवस्तु है, उसमें ज्ञानगुण है और यह ज्ञानगुण का धारक गुणी है, इसप्रकार भेद उत्पन्न करके उसमें अटकना, वह भी मिथ्यादृष्टि है।

अत: इस बोल में कहते हैं कि अभेद आत्मा ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करता है, आलिंगन नहीं करता है, वह एकरूप शुद्ध असंगी तत्त्व है। आत्मा शरीर-मन-वाणीरहित, कर्मरहित; शुभाशुभ परिणाम जितना नहीं है, उसीप्रकार गुणभेद में रुके, वैसा भी नहीं है; परन्तु **शुद्ध, अभेद, एकाकार, परिपूर्ण आत्मा है, उसे दृष्टि में लेना-श्रद्धा में लेना, वह सम्यग्दर्शन है।**

पर के अभावस्वभाववाला आत्मा

१. शरीर, मन, वाणी, कर्म, जड़ वस्तुएँ तथा अन्य आत्मायें उन सर्व का इस आत्मा में अभाव है अर्थात् वह उनके अभाव स्वभाववाला है।

२. पुण्य-पाप के भाव त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं। अंत: आत्मा उनके अभाव स्वभाववाला है। आत्मा को विकारवाला मानने से सच्ची श्रद्धा नहीं होती है।

३. सामान्य में विशेष का अभाव है। निश्चय से सामान्य पदार्थ विशेष को स्पर्श करे तो सामान्य और विशेष एक हो जायें। सामान्य, विशेष के भेद रहित अभेद एकाकार आत्मा वंह शुद्धद्रव्य है।

इस बोल में लिंग का अर्थ गुण किया है; परन्तु गुण तो बहुत हैं, अत: ग्रहण शब्द का अर्थ ज्ञान किया है। अभेद आत्मा ज्ञानगुण को स्पर्श नहीं करता है।

अनादि से अज्ञानी जीव मानता है कि एक शरीर अन्य शरीर को रोकता है, स्पर्श करता है; एक आत्मा शरीर को स्पर्श करता है, कर्म को स्पर्श करता है और अन्य आत्मा को स्पर्श करता है; त्रिकाली स्वभाव विकार को स्पर्श करता है और गुणभेद को स्पर्श करता है; परन्तु यह सब मान्यता भूल से भरी (भ्रमपूर्ण) है। एक का दूसरे में अभाव होने से एक दूसरे को परमार्थ से स्पर्श नहीं करता है।

इसप्रकार **आत्मा गुणविशेष से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्धद्रव्य है। वस्तु अभेद है; उसमें गुण-गुणी का भेद नहीं पड़ता है। सम्यग्दर्शन का विषय सम्पूर्ण आत्मा है** — ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

आत्मा अभेद-एकरूप वस्तु है। वह ज्ञानविशेष को स्पर्श नहीं करता है। उसे जाने बिना धर्म नहीं होता है। धर्म धर्मी में से उत्पन्न होता है। अभेद एकरूप आत्मा की श्रद्धा करने से नवीन धर्म पर्याय प्रगट होती है।

त्रिकाली अभेदस्वभाव में ज्ञानादि गुणभेद का अभाव है।

अभेद आत्मा ज्ञानादि गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है और सम्पूर्ण द्रव्य में ज्ञानगुण के भेद का अभाव है। दो वस्तु हों उनमें किसीप्रकार का अभाव है यह बतलाते हैं। जो वस्तु ही नहीं हो तो अभाव बतलाया नहीं जा सकता है; अतः आत्मा में ज्ञान आदि का गुणभेद है, कोई गुणभेद ही नहीं माने तो उसका व्यवहार ही सच्चा नहीं है। भेद और अभेदरूप वस्तु एक ही समय में है। इसप्रकार व्यवहार का ज्ञान कराने के पश्चात् अभेदद्रव्य में ज्ञानगुण के भेद का अभाव बतलाया है। **भेद के लक्ष से सम्यग्दर्शन नहीं होता है; परन्तु अभेद के लक्ष से सम्यग्दर्शन होता है।**

इस प्रमाण से गुणभेद से नहीं स्पर्शित अभेद आत्मा तेरा स्वज्ञेय है, ऐसा तू जान। इसप्रकार श्रद्धा-ज्ञान करने से धर्म होता है।

बोल १९ : आत्मा ज्ञानपर्याय विशेष से नहीं स्पर्शित शुद्धद्रव्य है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसको नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा पर्यायविशेष से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्धद्रव्य है; ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

यहाँ लिंग अर्थात् पर्याय, परन्तु पर्याय तो अनंत हैं; अतः ग्रहण का अर्थ ज्ञान की पर्याय लिया है। वह जिसको अर्थात् आत्मा को नहीं है, वह शुद्धद्रव्य है। **यहाँ आत्मा को ज्ञान की पर्याय नहीं है अर्थात् शुद्धद्रव्य एक पर्याय जितना नहीं है। त्रिकाली द्रव्य में क्षणिकपर्याय का अभाव है, इसप्रकार कहना है।**

सम्यग्दर्शन किसके आश्रय से प्रगट होता है, वह कहते हैं।

१. त्रिकाली स्वभाव यदि निमित्त का आश्रय करे तो पर के साथ एकताबुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

२. त्रिकाली स्वभाव यदि दया-दानादि का आश्रय करे तो आत्मा विकारी हो जाये और इसलिये धर्म होने का प्रसंग नहीं बने।

३. त्रिकाली स्वभाव को यदि निर्मलपर्याय जितना माने तो भी धर्म नहीं होता है।

(१) शुद्धस्वभाव त्रिकाली है और पर्याय एकसमय की है।

(२) शुद्धस्वभाव अंशी है और पर्याय वह अंश है।

(३) शुद्धस्वभाव सामान्य है और पर्याय वह विशेष है।

निश्चय से अंशी स्वभाव, अंश को स्पर्श करे तो अंशी और अंश पृथक् नहीं रहते हैं, जो कि वस्तुस्वरूप के विपरीत है। अतः आत्मा ज्ञानपर्याय से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्धद्रव्य है।

अपने स्वभाव का अखंडपना भूलकर अज्ञानी जीव पर में अखंडपने की कल्पना करता है।

जिसप्रकार लौकिक में किसी के पास पाँच करोड़ रुपये की पूँजी हो तो उसके पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू सब ऐसा मानते हैं कि हम पाँच करोड़ के स्वामी हैं। घर में २५ व्यक्ति हों उनमें एक व्यक्ति को पचीसवाँ भाग पूँजी मिलेगी, तो भी वह कहता है कि हम पाँच करोड़ के स्वामी हैं। वहाँ खण्ड भेद नहीं करता है; क्योंकि वहाँ रुचि है; उसीप्रकार अंतरस्वभाव सम्पूर्णद्रव्य को लक्ष में लेवे ऐसा है; वह खण्ड-खण्ड दशा को अथवा अधूरी दशा को लक्ष में लेवे ऐसा नहीं है। **स्वयं अखण्ड वस्तु है, वह परपदार्थ से रहित, विकार से रहित, गुणभेद से रहित और निर्मलपर्याय के भेद से रहित है।** जिसे उसका भान नहीं है, वह बाहर के संयोगों में जो किसी काल में अपने साथ नहीं रहते, उनमें अखंडपने की कल्पना करता है। वे संयोग किसी काल में उसके नहीं हो सकते और अखण्डपने तो उसके साथ रहनेवाले ही नहीं हैं, तो भी अज्ञानी उनमें अखण्डपना मानकर सुख मिलने की आशा करता है, वह उसका मोह है और वह संसार का कारण है।

धर्म की रुचिवाले जीव को त्रिकाली स्वरूप की श्रद्धा करना चाहिये।

अतः जिसे संसार का नाश करना हो, उसे अखंड ज्ञायक-स्वभाव की श्रद्धा करनी चाहिये। जिस स्वभाव में विकार का अभाव है, जिस स्वभाव में गुणभेद नहीं है, उसीप्रकार जो स्वभाव निर्मल ज्ञानपर्याय जितना नहीं है; परन्तु त्रिकाली एकरूप है, जो नित्यानंद ध्रुववस्तु है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन और धर्म होता है।

त्रिकाली स्वभाव को लक्ष में लिये बिना, जो जीव मात्र क्रियाकांड में धर्म मानता है, उसे कदापि धर्म नहीं होता।

१. जिनमन्दिर आदि जड़पदार्थ हैं, उन्हें आत्मा नहीं कर सकता है तो भी आत्मा उनकी क्रिया कर सकता है; इसप्रकार मानना मिथ्यात्व है।

२. तथा जिनमन्दिर के कारण राग हुआ अथवा राग हुआ; इसलिये जिनमन्दिर बना, ऐसा मानना मिथ्यात्व उत्पन्न करता है।

३. जिनमन्दिर का शुभराग हुआ; अतः जीव को धर्म होगा, इसप्रकार माननेवाला मिथ्यात्व उत्पन्न करता है।

४. पर्याय पर दृष्टि रखे; परन्तु अखंडद्रव्य को ध्यान में नहीं ले तो भी मिथ्यात्व होता है।

त्रिकाली शुद्धस्वभावसामान्य में निर्मल ज्ञानपर्याय विशेष का अभाव है।

अतः जीवों को जैसा आत्मा है, वैसा जानना चाहिये। इस बोल में निर्मल पर्याय से भी नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धद्रव्य कहना है अर्थात् त्रिकाली द्रव्य में वर्तमान ज्ञानपर्याय का भी अभाव है; परन्तु वह अभाव कब कहलाता है? प्रथम, दो अंश हैं, ऐसा बतलाने के पश्चात् अभाव कहते हैं। **यहाँ शुद्ध पर्याय भविष्य में प्रगट करनी है, ऐसा नहीं लेना है; क्योंकि जो वर्तमान में न हो, उसके साथ अभाव वर्तता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। परन्तु त्रिकाली द्रव्य जिससमय है, उसीसमय शुद्ध ज्ञान पर्याय है, भूत-भविष्य में नहीं है। इसप्रकार व्यवहार से पर्याय सिद्ध की है।** 'है' उसका ज्ञान कराया है, तत्पश्चात् कहा है कि शुद्ध ज्ञानपर्याय तो वर्तमान जितनी (मात्र) है और उस वर्तमानपर्याय का त्रिकालीस्वभाव में अभाव है।

निर्मल पर्याय अंश है, उसके लक्ष से सम्यग्दर्शन नहीं होता है; परन्तु अंशी आत्मा के लक्ष से सम्यग्दर्शन होता है। अत: ज्ञान की पर्याय जो अंश है, उसका अंशी आत्मा में अभाव बतलाकर, अंशी शुद्धद्रव्य का लक्ष कराया है। आत्मा सामान्य है और पर्याय विशेष है। सामान्य में विशेष का अभाव है; इसप्रकार कहकर सामान्यद्रव्य का लक्ष कराया है।

निर्मलपर्याय अंश है, उसके लक्ष से सम्यग्दर्शन नहीं होता है; परन्तु अंशी आत्मा के लक्ष से सम्यग्दर्शन होता है। अत: ज्ञान की पर्याय जो अंश है, उसका अंशी आत्मा में अभाव बतलाकर, अंशी शुद्धद्रव्य का लक्ष कराया है। आत्मा सामान्य है और पर्याय विशेष है। सामान्य में विशेष का अभाव है; इसप्रकार कहकर सामान्यद्रव्य का लक्ष कराया है।

इस बोल में अलिंगग्रहण का अर्थ — **अ**=नहीं, **लिंग**=पर्याय, **ग्रहण**=ज्ञान की पर्याय — वह जिसको नहीं है अर्थात् आत्मा शुद्धज्ञान की पर्याय को भी स्पर्श नहीं करता है — ऐसा शुद्धद्रव्य है, इसप्रकार स्वज्ञेय को जान।

ऐसा स्वज्ञेय श्रद्धा-ज्ञान में लेना, वह धर्म का कारण है।

बोल २० : आत्मा सामान्य त्रिकाली द्रव्य से नहीं स्पर्शित, ऐसा शुद्धपर्याय है, ऐसा स्वज्ञेय को तू जान।

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसको नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्ध पर्याय है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

पहले प्रत्यभिज्ञान का अर्थ कहते हैं। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनकी समय-समय अवस्था होती है। गुण ध्रुव रहते हैं। प्रत्यभिज्ञान एकसमय की ज्ञान की पर्याय है। यह वही वस्तु है जो पूर्वकाल में देखी थी; ऐसे जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उस प्रत्यभिज्ञान की पर्याय का कारण त्रिकाली ज्ञानसामान्य है।

आत्मा त्रिकाली ज्ञानसामान्य से नहीं स्पर्शित शुद्धपर्याय है, अविकारीज्ञान की पर्याय त्रिकाली गुण के आधार से प्रगट नहीं होती है। निश्चय से उसको सामान्य का भी आधार नहीं है — ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

देखो! यहाँ सूक्ष्म बात ली है। **अठारहवें बोल में** ऐसा कहा था — त्रिकाली द्रव्य सामान्य, वह ज्ञानरूप गुणभेद को स्पर्श नहीं करता है। आत्मा में ज्ञानगुण का भेद नहीं है अर्थात् आत्मा सामान्य अभेदरूप है, ऐसा कहा था। **उन्नीसवें बोल में** ऐसा कहा था—त्रिकाली द्रव्यसामान्य में ज्ञान की पर्याय नहीं है अर्थात् सामान्य में विशेष नहीं है, सामान्य में विशेष का अभाव है; ऐसा कहा था। **यहाँ बीसवें बोल में** कहते हैं कि एकसमय की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का अभाव है। ज्ञानगुण की पर्याय त्रिकाली ज्ञानगुण के आधार से नहीं है, विशेष सामान्य के आधार से नहीं है। एकसमय की सम्यग्ज्ञान की पर्याय अथवा केवलज्ञान की पर्याय निरपेक्ष है। त्रिकाली गुण के आधार से वह प्रगट नहीं होती है; इसप्रकार निरपेक्षता बतलाई है। इसप्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञान से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धपर्याय है; ऐसा यहाँ बतलाया है।

निर्विकारी ज्ञान की पर्याय प्रगट करनी है, उसका यहाँ प्रकरण नहीं है। शुद्धपर्याय 'है' उसका प्रकरण है। शुद्धपर्याय है, यह विशेष है। **विशेष 'है'** इसप्रकार कहते ही यह त्रिकाली ज्ञानसामान्य के आधार से नहीं है; इसप्रकार निर्णय होता है। पदार्थ 'है' इसप्रकार कहते ही, यह पर से नहीं है, इसप्रकार निर्णय होता है। पर्याय 'है' इसप्रकार कहो, तत्पश्चात् पर से 'है' ऐसा कहो तो उसका 'है' पना सिद्ध नहीं होता है। विशेष की अपेक्षा से सामान्य पर है; क्योंकि विशेष वह सामान्य नहीं है।

सामान्य के आधार से विशेष मानने में आये तो विशेष निरपेक्ष सिद्ध नहीं होता है। विशेष को पराधीन माने तो पराधीनदशा होती है, वह पर्यायबुद्धि है।

आत्मा अनादि से द्रव्य से शुद्ध है और उसके आश्रय करने से निर्मलपर्याय प्रगट होती है, अत: पर्याय में द्रव्य का अभाव वर्तता है; यहाँ ऐसा नहीं बतलाना है। **यहाँ तो प्रगटित शुद्धपर्याय है, उसकी बात है**। शुद्ध पर्याय पहले नहीं थी और तत्पश्चात् द्रव्य के आश्रय से प्रगट हुई, अत: पर्याय में द्रव्य का अभाव वर्तता है; इसप्रकार कोई तर्क करे तो वह तर्क मिथ्या है, यह बात ही यहाँ नहीं लेना है। यहाँ तो निरपेक्ष कथन करना है। शुद्ध पर्याय पहले नहीं थी और बाद में प्रगट हुई, ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता है। निरपेक्ष कहो और सामान्य

के आधार से कहो तो निरपेक्षपना स्वतन्त्र नहीं रहता है। तथा शुद्ध पर्याय में त्रिकाली सामान्यज्ञान का अभाव है अर्थात् विशेष में सामान्य का अभाव है। अभाव किनमें बतलाया जाता है ? दो अंश वर्तमान में हों, उनमें अभाव बतलाया जाता है। जो वह अस्तिरूप वस्तु ही नहीं हो तो अभाव नहीं बताया जा सकता है।

जिसप्रकार **१८वें बोल में** कहा था कि द्रव्य अभेद है, उसीसमय ज्ञानादि गुणभेद है तो सही; किन्तु अभेदस्वभाव में ज्ञानादि गुणभेद का अभाव है; अतः द्रव्य ज्ञान को स्पर्श नहीं करता है।

१९वें बोल में कहा था कि गुण सामान्य है, उसीसमय ज्ञान की निर्मल पर्याय है; परन्तु सामान्य शक्तिस्वरूप द्रव्य में ज्ञान की निर्मलपर्याय का अभाव है अर्थात् सामान्य में विशेष का अभाव है; अतः द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता है।

यहाँ २०वें बोल में इसप्रकार कहते हैं कि जब शुद्धपर्याय है; उसीसमय त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है; परन्तु ज्ञान की शुद्धपर्याय में द्रव्यसामान्य का अभाव है अर्थात् **विशेष में सामान्य का अभाव है; अतः शुद्धपर्याय सामान्यद्रव्य को स्पर्श नहीं करती है।**

शुद्धपर्याय में सामान्य का अभाव है; क्योंकि विशेष में सामान्य का अभाव नहीं हो तो विशेष और सामान्य एक हो जायें; वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। विशेष विशेष से ही है, सामान्य से नहीं है।

यहाँ विशेष निरपेक्ष है, यह सिद्ध करना है।

१८-१९-२० वें बोल में दो-दो प्रकार वर्तमान में सिद्ध करके एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते हैं; इसप्रकार कहकर अभेद की श्रद्धा कराना है।

१८ वें बोल में गुणभेद का गुणी में अभाव बताकर, अभेद गुणी सम्यग्दर्शन का विषय होता है, ऐसा बतलाया है।

१९ वें बोल में प्रगट हुई सम्यग्ज्ञान की पर्याय है, उसे सामान्य, ध्रुव, ज्ञाता-दृष्टा सदृश स्वभाव स्पर्श नहीं करता है, ऐसा बतलाकर सामान्य ध्रुव सदृश स्वभावरूप आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है, ऐसा बतलाया है।

२० वें बोल में ऐसा कहते हैं कि वर्तमान निर्मलज्ञानपर्याय ध्रुव ज्ञानस्वभाव को स्पर्श नहीं करती है। शुद्धपर्याय वर्तमान में प्रगट है। 'है' उसकी बात है। शुद्धपर्याय पहले नहीं थी और तत्पश्चात् ध्रुव के लक्ष से प्रगट होगी, उस सापेक्षता की बात ही नहीं लेनी है। शुद्धपर्याय है, है और है, सामान्य ध्रुव भी है; परन्तु शुद्धपर्याय सामान्य के कारण नहीं है; क्योंकि विशेष में सामान्य का अभाव है।

१. शुद्ध प्रगट हुई पर्याय, देव-शास्त्र-गुरु का निमित्त मिला — इसकारण प्रगट होती है, ऐसा नहीं है।

२. शुद्ध प्रगट हुई पर्याय, पुण्य का शुभभाव है; अतः प्रगट हुई है, ऐसा नहीं है।

३. शुद्ध प्रगट हुई पर्याय, सामान्य ज्ञानगुण शक्तिरूप है, अतः प्रगट हुई है; ऐसा भी नहीं है।

४. पूर्व की अनुभूति के कारण वर्तमान अनुभूति हुई, ऐसा भी नहीं है। शुद्धपर्याय है — वह निरपेक्ष है, अहेतुक है।

इसप्रकार निर्णय करने पर निमित्तों और शुभराग पर से लक्ष तो छूटता ही है, उसीप्रकार विशेष और सामान्य के भेद पर से भी लक्ष छूटकर एकाकार वस्तु पर लक्ष जाता है।

सब गुण असहाय कहे हैं। एक गुण में अन्य गुण का अभाव है, उसे अतद्भाव कहते हैं। दर्शनगुण ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता है और ज्ञानगुण दर्शन की अपेक्षा नहीं रखता। जिसप्रकार गुण असहाय हैं, स्वतन्त्र-निरपेक्ष हैं; उसीप्रकार ज्ञान की शुद्ध प्रगट पर्याय है, वह ज्ञानगुणसामान्य की अपेक्षा नहीं रखती है। शुद्धपर्याय में त्रिकाली ज्ञानगुण का अभाव है। एक-एक शुद्धपर्याय — सम्यग्ज्ञान की अथवा केवलज्ञान की—असहाय है, निरपेक्ष है।

प्रश्न : निरपेक्ष पर्याय कहकर क्या पर्यायदृष्टि करानी है ?

उत्तर : नहीं, पर्यायदृष्टि नहीं करानी है। समय-समय की पर्याय सत् अहेतुक है। वह निमित्त की अथवा राग की अपेक्षा नहीं रखती है, किन्तु ज्ञान

गुण सामान्य है, उसकी भी अपेक्षा नहीं रखती है। इसप्रकार उसकी निरपेक्षता बतलाई है। **जो शुद्धपर्यायरूप परिणमित है, वही आत्मा है, आत्मा स्वयं ही शुद्धपर्याय है। इसप्रकार बतलाकर द्रव्यदृष्टि कराई है।** सामान्य तथा विशेष के भेदवाला आत्मा सम्यग्दर्शन का ध्येय नहीं है। शुद्धपर्याय, वही आत्मा है; इसप्रकार कहकर अभेददृष्टि कराई है।

इस प्रमाण से यहाँ अलिंगग्रहण का अर्थ — **अ**=नहीं, **लिंग**=प्रत्यभिज्ञान का कारण, **ग्रहण**=त्रिकाली सामान्यज्ञान अर्थात् जिसको ज्ञानसामान्य नहीं है, ऐसा आत्मा अलिंगग्रहण है। इसप्रकार आत्मा त्रिकाली ज्ञान से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धपर्याय है। आत्मा स्वयं ही शुद्धपर्याय है। आत्मा और शुद्धपर्याय में भेद नहीं है, इसप्रकार तेरे स्वज्ञेय को जान। ऐसे स्वज्ञेय आत्मा को जानना-श्रद्धा करना धर्म है।